वक्तव्य

जिस पुस्तक के आधार पर यह पुस्तक लिखी गई है उसका नाम है Plain Living and High Thinking और यह अंगरेज़ी की उन पुस्तकों में से हैं जिनका उद्देश्य युवा पुरुषों के अंतःकरण में उत्तम संस्कार उत्पन्न करना है। इस पुस्तक में विवेक, बुद्धि और स्वास्थ्य इन तीनों की वृद्धि के संबंध में अलग अलग विचार करके मनुष्य-जीवन का एक सर्वांगपूर्ण और उच्च आदर्श सामने रक्खा गया है। किस प्रकार के आचरण से मनुष्य अपना जन्म सफल कर सकता है, किस रीति पर चलने से वह संसार में सुख और यश का भागी हो सकता है यदि ऐसी बातों का जानना आवश्यक है तो ऐसी पुस्तक का पढ़ना भी आवश्यक है। हिंदी में ऐसी पुस्तकें देखने की चाह अब लोगों को हो चली है।

अंगरेज़ी पुस्तक में ग्रंथकार ने, 'अध्ययन' के प्रसंग में, किन किन विषयों की कौन सी पुस्तकें किस क्रम से पढ़ी जाँय, इसका बड़े विस्तार के साथ कई प्रकरणों में ऐसा वर्णन किया है कि उससे उन उन विषयों के इतिहास का भी परिज्ञान हो जाता है। वे सब प्रकरण इस पुस्तक में छोड़

दिए गए हैं। एक बात और भी की गई है। जहां जहां अंगरेज़ी पुस्तक में दृष्टांत रूप से योरप के प्रसिद्ध पुरुषों के वृत्तांत आए हैं वहां वहां यथासम्भव भारतीय पुरुषों के दृष्टांत दिए गए हैं। पुस्तक को इस देश की रीति नीति के अनुकूल करने के लिये और बहुत सी बातें घटाई बढ़ाई गई हैं।

काशी,
२ जून १९१५

रामचंद्र शुक्ल

सूची।

आदर्श जीवन।

पहला प्रकरण।

पारिवारिक जीवन।

डाक्टर ब्राउन (Dr. Brown) ने अपनी एक पुस्तक में अपने पिता का, जो स्काटलेंड देश के एक प्रसिद्ध पादरी थे, कुछ वृत्तांत लिखा है जिसका एक अंश अत्यंत हृदयग्राही है। वे लिखते हैं—"मेरी माता की मृत्यु के उपरांत मैं उन्हीं के पास सोता था। उनका पलंग उनके पढ़ने लिखने के छोटे कमरे ही में रहता था जिसमें एक बहुत छोटा सा आतिशदान भी था। मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि किस प्रकार वे उन मोटी मोटी बेढंगी जरमन भाषा की पुस्तकों को उठाते थे और उनसे चारों ओर घिर कर उनमें गड़ से जाते थे। जिस समय वे आकुलता के साथ उनके पन्नों को काटते, अपने स्वभाव के अनुसार उनमें मग्न होकर झट झट उनका रसास्वादन करते जाते और बेढंगे कटे हुए पन्नों से कागज़ की धज्जियां निकाल कर मेरे आगे फेंकते जाते थे, मैं टक लगाये उनकी ओर देखता रहता था। जब तक मैं जागता रहता था वे बिस्तर पर नहीं जाते थे। पर कभी कभी ऐसा होता कि बहुत

रात गए वा सवेरा होते होते मेरी नींद टूटती और मैं देखता कि आग बुझ गई है, उजाला खिड़की के रास्ते कुछ कुछ आ रहा है, उनका सुंदर गंभीर मुख झुका हुआ है और उनकी दृष्टि उन्हीं पुस्तकों की ओर गड़ी हुई है। मेरी आहट सुन कर वे मुझे मेरी मां का रखाया हुआ प्यार का नाम लेकर पुकारते और बिस्तर पर आकर मेरे गरम शरीर को छाती से लगा कर सो रहते थे"। इस वृत्तांत से हमें उस स्नेह और विश्वास के संबंध का पूरा आदर्श मिलता है जो पिता पुत्र के बीच होना चाहिए। पुत्र पिता की ओर श्रद्धायुक्त स्नेह से देख रहा है और पिता पुत्र को गहरी और सच्ची सहानुभूति से छाती से लगा रहा है। माता और पुत्र का स्नेह ऐसा नहीं होता। उसमें एक ओर शासन के भाव की कमी रहती है, दूसरी ओर आज्ञापालन के भाव की। पर पिता पुत्र के स्नेह में यद्यपि मृदुलता कम रहती है पर विश्वास की मात्रा विशेष रहती है, यद्यपि आवेग कम रहता है पर विवेक अधिक रहता है, यद्यपि अवलंबन का मृदुल भाव कम रहता है पर समता की बुद्धि विशेष रहती है। चाहे पिता पुत्र के मनोविकारों को उतना न जाने पर वह उसकी बुद्धि के विषय में विशेष जानकारी रखता है। उसका पुत्र के साथ तीन प्रकार का संबंध है—पथदर्शक का, तत्त्वचिंतक का और मित्र का। डाक्टर ब्राउन और उनके पिता के बीच जैसा व्यवहार था उसमें तीनों का लाभ था। उसके द्वारा पिता के भाव भी

पुष्ट और उत्तेजित होते थे, वह अपने आप ही में मग्न रहता तथा रुखाई और अल्पभाषण के बोझ से दबे रहने से बचता था। पुत्र के लिये भी यह एक खासी शिक्षा-पद्धति थी, उसके द्वारा उसकी बुद्धि और विवेक की भी उन्नति होती थी और उसे एक प्रकार का स्थायी आनंद भी मिलता था। बुद्धिमान् और सुशील पिता से जितना हम सीखते हैं उतना सैंकड़ों शिक्षकों से भी नहीं। पिता सब से बढ़ कर और सच्चा शिक्षक है जिसके दिए हुए पाठों को हम सदैव पढ़ा करते हैं। ये पाठ केवल उसके मुंह से निकले हुए शब्द ही नहीं होते बल्कि उसके आचार व्यवहार के रूप में भी होते हैं। क्या कोई कह सकता है कि डाक्टर ब्राउन को उस आदर्श पुरुष के सत्संग से कितना लाभ पहुंचा होगा जिसमें न कि केवल बुद्धि-बल ही था बल्कि आध्यात्मिक बल भी अत्यंत अधिक था। उसका धैर्य, आत्म-निग्रह, कोमल स्वभाव, संभावनाओं की तीव्रता, उसकी शिष्टता, उसकी पवित्रता. और धर्म्म-परायणता आदि गुण ऐसे थे जिनका स्थायी प्रभाव पुत्र पर हर घड़ी पड़ता था। उसकी साहित्य-संबंधिनी सहृदयता से भी, बालक ब्राउन को बहुत ही लाभ पहुंचा। जब वह बाइबिल के ओज पूर्ण अंशों तथा मिल्टन के पद्यों को ज़ोर ज़ोर से पढ़ता था तब बालक की बुद्धि और सहृदयता का विकाश होता था।

पर इस प्रकार की अनियमित घरेलू शिक्षा से लाभ उठाने के लिये श्रोता में कुछ श्रद्धा, सीखने की स्नेहपूर्ण

तत्परता, तथा तीक्ष्ण बुद्धि या समझ चाहिए। खेद के साथ कहना पड़ता है कि ये बातें ऐसी हैं जो आज कल के लड़कों या नवयुवकों में नहीं पाई जातीं। पहले की अपेक्षा अब परिवार-बंधन शिथिल हो गए हैं। अब घर में भी व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा शासन का विरोध फैल रहा है। आज कल के नाटकों और उपन्यासों को देखने से यह बात साफ झलकती है कि पिता पुत्र के संबंध का भाव जैसा पहले समय में था वैसा अब नहीं रह गया है, अब उसमें घटती हो रही है। प्रायः देखा जाता है कि पिता अब ऐसा शिक्षक नहीं रह गया है जिसकी बातों को पुत्र श्रद्धा और स्नेह से सुने। अब वह ऐसा विश्वासपात्र सुहृद नहीं समझा जाता है कि पुत्र कठिनाई के समय उसकी सलाह को सच्ची और कल्याणकारी समझ उसके लिये उसके पास जाय। अब वह ऐसा शासक नहीं रह गया है जिसकी सामान्य से सामान्य इच्छा को भी पुत्र अपने लिये अटल आदेश समझे। आज कल के कुछ उपन्यासों को रामायण, महाभारत आदि से मिलान करने पर इस परिवर्त्तन का पता अच्छी तरह चल सकता है। दशरथ की आज्ञा को राम ने किस श्रद्धा और शांति के साथ सुना और प्रसन्न-मुख वन का रास्ता पकड़ा। भीष्म ने किस प्रकार अविवाहित रहने की कठिन प्रतिज्ञा कर के अपने पिता को सन्तुष्ट किया। इसके विरुद्ध आज कल के नए ढंग के उपन्यासों में पिता लेखकों की हँसी दिल्लगी का एक खासा लक्ष्य होता है।

उसे चकमा देना, बेवक़ूफ़ बनाना, अपमानित करना लेखकों का एक कौशल समझा जाता है। किसी किसी उपन्यास में तो वह भद्देपन और गँवारपन की मूर्त्ति बनाया जाता है और उसका अपमान नवशिक्षित और समाज-संशोधक पुत्र बड़ी बहादुरी के साथ करते दिखाए जाते हैं।

हमारे पूर्वजों की यह चाल नहीं थी। यह ठीक है कि आज कल की तरह उस समय भी मूर्ख पिता और बेकहे लड़के होते थे पर उस समय पितृ-शासन का आदर्श ऊंचा था। जहां आज कल लड़के अवज्ञा करते हैं वहां उस समय वे बात सुनते और मानते थे। क्या पूर्व क्या पश्चिम सर्वत्र यही व्यवस्था थी। इंगलैंड में सर फ़िलिप सिडनी और उसके पिता के संबंध को देखिए। ज़ुटफ़न के विजेता और 'आर्केडिया' के ग्रंथकार सिडनी अपने पिता पर अत्यंत स्नेह और पूज्यबुद्धि रखते थे, जिनसे उन्होंने अपने शरीर की सुंदरता, अपनी बुद्धि की प्रौढ़ता तथा हृदय की दृढ़ता ओर वीरता प्राप्त की थी। पिता भी सिडनी ऐसे पुत्र को पा कर अभिमान से फूले अंगो न समाता था। लार्ड लिटन ने अपने एक उपन्यास में कैक्स्टन नामक एक युवक का उसके पिता के साथ आदर्श संबंध दिखलाया है। उसमें पिता बुद्धि, धीरता और कोमलता का आगार है और पुत्र श्रद्धा, स्नेह और आज्ञाकारिता का। युवक कैक्स्टन एक स्थल पर कहता है—"मैं प्रायः औरों के साथ की लंबी सैर छोड़, क्रिकेट का खेल छोड़, मछली का शिकार छोड़ अपने

पिता के साथ बगीचे की चहार दीवारी के किनारे धीरे धीरे टहलने जाता। वे कभी तो बिलकुल चुप रहते, कभी बीती बातों को सोचते हुए आगे की बातों की चिंता करते। पर जिस समय वे अपनी विद्या का भांडार खोलने लगते और बीच बीच में चुटकुले छोड़ते जाते उस समय एक अपूर्व आनंद आ जाता था"। कैन्स्टन कोई कठिनाई आ पड़ने पर पिता ही के पास जाता, दुःख की घड़ी उसी के पास बैठ कर बिताता और अपने हौंसलों और आशाओं को उसी के सामने कहता। बड़ा भारी संकट आने पर जब कि दुःख का एक अटल पहाड़ उसके आगे दिखाई दिया और वह चुपचाप मन मार कर बैठा तो क्या देखता है कि उसका पिता उसी की ओर टक लगाए आर्द्रचित्त देख रहा है। पर पुत्र को ऐसा पिता मिले इसके लिये यह भी आवश्यक है कि पिता को ऐसा पुत्र मिले। परस्पर सहानुभूति तथा स्नेह की समानता चाहिए। पुत्र को पिता के वय का, उसके अधिक अनुभव का, उसके उन दुःखों का जिन्हें उसने उसके लिये उठाया है सर्वदा ध्यान रखना चाहिए। पिता पुत्र के संबंध में पुत्र को पिता के स्वाभाविक बड़प्पन को स्नेहपूर्वक खुले दिल से स्वीकार करना चाहिए। बहुत से पुत्र ऐसे होते हैं जो बिलकुल बुरे, बेकहे और स्नेहशून्य तो नहीं होते पर वे अपने पिता के साथ मान मर्य्यादा का भाव छोड़ इस प्रकार हेलमेल का व्यवहार रखते हैं मानो वह उनका कोई गहरा संगी हो। वे उससे चलती बाज़ारू बोली में बातचीत

करते हैं और उसके प्रति इतना सम्मान भी नहीं दिखाते जितना एक बिना जाने सुने आदमी के प्रति दिखाते हैं। यह बेअदबी तिरस्कार से भी बुरी है।

मैं उन लोगों के लिये लिखता हूं जो अपना जीवन उपयोगी बनाना चाहते हों, जो ईश्वर के दिए हुए गुणों और शक्तियों से भरपूर लाभ उठाना चाहते हों, जो संसार में अपने दिन पूरे करने के उपरांत अपने कर्म्मक्षेत्र के बीच—चाहे वह छोटा हो या बड़ा—अपनी स्थिति के द्वारा कुछ भलाई छोड़ जाना चाहते हों। मैं ऐसे लोगों से आत्मसंस्कार के निमित्त, अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों की शिक्षा के निमित्त तथा अपने मनोवेगों के परिष्कार के निमित्त शुभ प्रयत्न करने का अनुरोध करता हूं। जरमी टेलर (Jeremy Taylor) कहते हैं-"ज़िंदगी एक बाज़ी के समान है। हार जीत तो हमारे हाथ नहीं है, पर बाज़ी का खेलना हमारे हाथ में है"। मैं अपने पाठकों से अनुरोध करता हूं कि वे सीखें कि यह बाज़ी किस तरह खेलनी चाहिए। प्रतिभा और प्राप्त शक्ति में—अर्थात् उस शक्ति में जो ईश्वर प्रदत्त है और उसमें जो हम साधन वा अभ्यास द्वारा प्राप्त करते हैं—भेद माना गया है, और ठीक भी है। पर यह भेद इतना सूक्ष्म है कि जो पुरुष अपने संकल्प में दृढ़ और अपने कर्म में तत्पर है वह उसे एक प्रकार से मिटा सकता है। अथवा यों कहिए कि मनुष्य की प्रतिभा भी बहुत कुछ उसी के हाथ में है। बुद्धि वा समझ

को हम परिश्रम का फल कह सकते हैं और स्वच्छ विवेक को उपयुक्त शिक्षा वा सस्कार का। डाक्टर आर्नल्ड (Dr. Arnold) ने इसी अभिप्राय से यह लिखा है—" इस जगत में सब से बड़ी तारीफ़ की बात यह है कि जिन लोगों में स्वाभाविक शक्ति की कमी रहती है यदि वे उसके लिये सच्चा साधन और अभ्यास करें तो परमेश्वर उन पर अनुग्रह करता है"। बक्स्टन (Howell Buxton) ने भी कहा है—" युवा पुरुष बहुत से अंशों में जो होना चाहें वह हो सकते हैं"। एरी शेफ़र (Ary Scheffer) ही की बात को लीजिए जो कहते हैं—" जीवन में शारीरिक और मानसिक परिश्रम के बिना कोई फल नहीं मिलता......दृढ़ चित्त और महान् उद्देश्य वाला मनुष्य जो करना चाहे सो कर सकता है"। जिस प्रकार बहुत से लोग अपनी सामर्थ्य पर बहुत अधिक भरोसा करके, अपनी पहुंच का विचार न करके अकृतकार्य्य होते हैं उसी प्रकार बहुतेरे लोग साहसहीनता और अपनी सामर्थ्य पर अविश्वास के कारण अकृतकार्य्य होते हैं, जिनसे उनकी सारी शक्ति मारी जाती है और उनके सारे प्रयत्नों का सार निष्फल जाता है। यह एक पुरानी कहावत है कि जब तक मनुष्य हाथ नहीं लगाता तब तक वह नहीं जान सकता कि कुछ वह कर सकता है या नहीं। हमें चाहिए कि जो करना हो उसे अच्छी तरह आरंभ करदें और दृढ़ संकल्प के साथ आगे बढ़ते जांय। हमें आरम्भ अवश्य कर देना चाहिए क्योंकि यह निश्चय है

हम में से हर एक कुछ न कुछ कर सकता है और करेगा, यदि दो एक बार अकृतकार्य्य हो कर हिम्मत न हारे। एकलव्य यदि द्रोणाचार्य्य के यहां से निराश हो कर धनुर्विद्या का अभ्यास छोड़ देता तो वह उसमें इतना कुशल न होता। पैलिसी (Palissy) कभी तामलेट या लुकदार बरतन बनाने की युक्ति न निकाल सकता यदि वह पहले पहल बरतनों को भट्ठी में चिटकते देख अपनी धौंकनी आदि फेंक किनारे हो जाता। प्रसिद्ध फ़रासीसी महोपदेशक लकार्डेयर (Lacordaire) यदि सन राच (San Roch) के गिरजे में अपने को बोलने में असमर्थ देख हतोत्साह हो जाता तो वह एक गली गली घूमनेवाला पादरी ही रह जाता। सब बातों का तत्त्व यह है कि हम अवसर को हाथ से न जाने दें, हम अपनी प्रत्येक शक्ति का उपयोग करें, और दृढ़ता, आशा और धीरता के साथ उन्नति के पथ पर आगे बढ़ते जाँय। स्वसंस्कार का कार्य्य इसी प्रकार सुसम्पन्न होगा।

पर इस विषय में विशेष आगे चल कर कहा जायगा। हम यहां पर यह माने लेते हैं कि युवक पाठक अपना जीवन श्रेष्ठ बनाना चाहते हैं और ईश्वर की कृपा से प्राप्त मनुष्य-जन्म को सार्थक करना चाहते हैं। वे स्वशिक्षा के महत्कार्य में लग गए हैं। इस अवस्था में उन्हें अपनी शिक्षा का आरंभ घर ही में करना चाहिए। उन्हें पुत्र वा भाई के रूप में शिक्षा ग्रहण करनी होगी। इन रूपों में उन्हें स्वार्थत्याग, अधीनता,

सच्चाई, ईमानदारी का अभ्यास करना चाहिए, जो जीवन के संग्राम में कवच और अस्त्र का काम देंगी। घर पर की सीखी हुई ये बातें बाहर भी पूरा काम देंगी। ये घरेलू संस्कार संसार की विकट यात्रा में रक्षक देवताओं के समान उनके साथ रहेंगे, उन्हें लड़खड़ा कर गिरने से बचावेंगे, उनके कानों में आशा का मधुर संगीत डालेंगे और उनके आगे आगे स्वच्छ सूर्य्य का प्रकाश फैलावेंगे। इसी लिये मैंने पुस्तक के आरंभ ही में पिता पुत्र के संबंध का एक सुंदर दृष्टांत दिखाया। पिता के प्रति पुत्र के तीन कर्त्तव्य हैं—स्नेह, सम्मान, और आज्ञापालन। यह कहा जा सकता है जहां आज्ञाकारिता और सम्मान नहीं वहां स्नेह नहीं रह सकता। आज कल माता पिता के प्रति लीक पीटने का सा आधा स्वार्थमय स्नेह ही जिसमें अधीनता और विवेक की प्रवृत्ति नहीं होती बहुत से लड़कों में होता है। यह वह गूढ़ पवित्र और सच्चा स्नेह नहीं है जिसे पुत्र अपना कर्त्तव्य समझे और पिता जिसका अभिमान करे। जब कोई नवयुवक घर से ऊब जाय या अपनी गुप्त बातों को पिता के कानों में डालने से हिचके तो उसे तुरंत सँभल जाना चाहिए और यह समझ लेना चाहिए कि जिस मार्ग पर उसने पैर रक्खा है उससे उसका सत्यानाश होगा। जिस कार्य्य में वह प्रवृत्त हो उसकी भलाई बुराई की जांच के लिये सब से सीधा उपाय यह है कि वह उसे अपने परिवार के लोगों के सामने प्रगट करे। वह इस बात

को विचारे कि क्या वह उसकी चर्चा घर में अपने माता-पिता के सामने कर सकता है? क्या वह कार्य्य इस योग्य है कि उसकी परीक्षा परिवार के बीच हो?. जब किसी रासायनिक द्रव्य का एक बार विश्लेषण होजाता है तब उसके संयोजक अंश बराबर एक दूसरे से उसी प्रकार पृथक होते जाते हैं जिस प्रकार पहले वे एक दूसरे की ओर आकर्षित होते थे। इसी प्रकार जब कोई युवक एक बार घर से अलग कोई काम कर बैठता है तब वह बराबर उससे दूर ही पड़ता जाता है। अतः इस प्रवृत्ति को तुरंत रोकना चाहिए, नहीं तो आगे चल कर इसका रोकना कठिन हो जायगा। उसके और उसके परिवार के बीच जितना ही अधिक अंतर बढ़ता जायगा उतना ही उसे उस अंतर को मिटाने में संकोच होगा। पहाड़ की चोटी से लुढ़क कर जितनी ही जो वस्तु नीचे आ जाती है उतनी ही उसकी गति नीचे की ओर बढ़ती जाती है। जब किसी युवक को यह मालूम हो कि उसका घर अब उसे उतना अच्छा नहीं लगता जितना पहले लगता था तब उसे अपने हृदय पर हाथ रख कर टटोलना चाहिए कि "क्यों?" बहुतेरे चंचल प्रकृति नवयुवकों का यह सिद्धांत हो रहा है कि किसी पर श्रद्धा करना ठीक नहीं। वे किसी पर श्रद्धा नहीं रखते. किसी से स्नेह नहीं करते। उनकी समझ में परिवार से स्नेह करना हृदय की दुर्बलता है और जो पुत्र अपने माता पिता से स्नेह रखता है वह या तो दूधमुहाँ बच्चा है अथवा पाखंड में

फँसा हुआ धूर्त्त है। जिस युवक ने ससंस्कार का कार्य्य हाथ में लिया हो और जीवन के कर्त्तव्य, उद्देश और अवसर के विषय में जिनके विचार उच्च हों उसे ऐसे लोगों का साथ न करना चाहिये, क्योंकि उनका मस्तिष्क (बुद्धि से) वैसाही शून्य रहता है जैसा कि उनका हृदय (स्नेह आदि से)। बात यह है कि श्रद्धा की कमी के साथ साथ बुद्धि-शक्ति का भी ह्रास होता है, अतः उनके साथ से उनकी बुद्धि तो कुछ बढ़ेगी नहीं और नैतिक क्षति बड़ी भारी होगी। इस बात को मैं अत्यंत आग्रह के साथ कहता हूं कि पारिवारिक स्नेह अपनी पवित्रता, अपने उच्च प्रभाव तथा अपनी स्थिरता के कारण ससंस्कार का मूल मंत्र है।

जब हम अपने चारों ओर दृष्टि डालते हैं तो जो बात हमें सब वस्तुओं में दिखाई पड़ती है वह परिवर्त्तनशीलता है। फूल कुँभला जाते हैं और पत्तियां सूख कर गिर पड़ती हैं। वसंत में फिर नए फूल होते हैं और नए पत्तों की हरियाली छा जाती है पर काल पा कर वे भी चले जाते हैं। एक मुरझाई आशा के उपरांत दूसरी आशा दिखाई पड़ती है। एक वर्ष के उपरांत दूसरे वर्ष का आगम और भोग हमारे ऊपर से जाता है। दिन आते हैं और जाते हैं। ज्यों ही हम वर्त्तमान से परिचित होते हैं और समझते हैं कि यह हमारे हाथ में है वह चट व्यतीत हो जाता है और हम आगे उस भविष्य की ओर देखते हैं जिसका विस्तार भी वर्त्तमान की

अस्थिरता के कारण संकुचित होता जाता है। यहां यह कहानी याद आती है जिसमें एक मनुष्य यह सुन कर दौड़ा था कि इंद्रधनुष पृथ्वी पर जिस स्थान से उठा है वहां एक सोने का कटोरा है, पर वह ज्यों ज्यों बढ़ता गया त्यों त्यों उसे इंद्रधनुष भी आगे बढ़ता दिखाई पड़ा और अंत में आकाश में विलीन हो गया। इसी प्रकार कालसमुद्र में बुलबुले पर बुलबुले उठते हैं और अदृश्य होते हैं। पर कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हैं जिनका नाश नहीं होता, जिन्हें काल नहीं स्पर्श करता। हमारा घरेलू स्नेह, हमारी पारिवारिक सहृदयता उदारता और स्वार्थ-त्याग—ये वस्तुएँ ऐसी हैं जो एक ऐसे अमूल्य और अक्षय्य भांडार के रूप में संचित होती जाती हैं जो अंत में उस अनंत प्रेमस्वरूप (परमेश्वर) में लीन हो जायगा। हमारी प्रकृति में जो उत्कृष्टता है वह मृत्यु के उपरांत भी बनी रहेगी। जिस प्रकार हमारी आत्मा अमर है उसी प्रकार उसका अंश स्वरूप हृदय भी अमर है। जिस प्रकार हमारा बुद्धि-ज्ञान बना रहता है उसी प्रकार हमारे हृदय के भाव भी बने रहते हैं क्योंकि वे आत्मा के अँश हैं और उनके बिना हमारा अस्तित्व ही खंडित और अपूर्ण रहेगा। पितृस्नेह के भाव को निकाल लीजिए तो कृष्ण-कुमारी में बचता क्या है? पद्मिनी उस पति-प्रेम और पातिव्रत भाव के बिना क्या रह जायगी जिसके कारण उसने अपने जी पर खेल अपने पति को छुड़ाया और वह अंत में चिता में कूदी?

क्या हृदय के भावों की यह अमरता ऐसी नहीं है जिसके लिये हम उनका अभ्यास करें। यदि ये मृदुल और गंभीर भाव जिनके बल से माता और शिशु, पिता और पुत्र, भाई और बहिन परस्पर संबंध-सूत्र में बँधे रहते हैं और मृत्यु के उपरांत भी बने रहनेवाले हैं तो हम उनके उपार्जन के लिये पूरा यत्न क्यों न करें। इस प्रकार का यत्न हमारी नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा का एक अंग होगा,—उस शिक्षा का एक अंग होगा जिसके द्वारा हम अपने जीवन के कर्त्तव्यों में समर्थ होंगे। यदि हम विचार कर देखें तो विदित होगा कि हमारा परिवार परमात्मा की ओर से स्थापित एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा हम अपने अंतःकरण को पवित्र कर सकते हैं और अपनी आत्मा में सतोगुण को पुष्ट कर सकते हैं। वह कोई शिक्षा नहीं जिसमें इसका विचार न किया जाय। एक महापुरुष का कथन है—"थोड़े से ऐसे जीवों के जो एक साथ खाते पीते सोते और उठते बैठते हैं, एक ही घर में रहने से परिवार नहीं बन जाता। इस तरह तो हम घर की ईंटों ही को परिवार कह सकते हैं। किसी परिवार के आधे लोग चाहे पृथ्वी के भिन्न भिन्न भागों में रहते हों पर हम उसे सुख संपदापूर्ण परिवार कह सकते हैं। पारिवारिक जीवन के सच्चे अंग तो प्रेमपूर्वक स्मरण, परस्पर का सद्भाव, मंगल कामना, सहानुभूति, माता पिता का आशीर्वाद, पुत्र का स्नेह भगिनी का अभिमान, भाई का प्यार आदि हैं।"

यह कहावत बहुत ठीक है कि हम किसी वस्तु का गुण तब तक नहीं जानते जब तक उसे खो नहीं देते। हम जिन वस्तुओं को दिन रात देखते रहते हैं उनकी क़दर तब तक नहीं जानते जब तक कि उन्हें खो नहीं बैठते। नदी किनारे के गुलाब को जो नित्य देखता है उसके लिये वह कुछ भी नहीं है पर आस्ट्रेलिया के उजाड़ में घूमनेवाले के चित्त में उसके मुरझाए हुए दलों को देखकर अनेक वर्णनातीत भाव उदय होंगे। उनमें उसे मृदुल और अनूठे स्वरूपों का आभास मिलेगा। इसी प्रकार बहुत से युवा पुरुष, माता के स्नेह, उसके अपूर्व धैर्य्य और त्याग का मूल्य तभी समझते हैं जब उनकी स्मृति मात्र रह जाती है। जब वे चिता के किनारे खड़े होकर उसके ऊपर लकड़ियों का ढेर लगते देखते हैं जो किसी समय उनपर प्राण तक न्योछावर करनेवाली उनकी कोमल-हृदया माता थी तब उनकी आंखें खुलती हैं और वे हाय मारते हुए अपनी हानि को समझते हैं। पर यह भी कोई बात है कि जब तक इस भीषणता के साथ आँख न खोली जाय तब तक चेत न हो। यह तो सत्य है कि तुम्हारे जीवन के अंतिम काल तक माता की स्मृति के गूढ़ और नीरव प्रभाव के द्वारा तुम्हारी भलाई होती रहेगी। एक अमेरिकन राजनीतिज्ञ कहता है—"मैं नास्तिक होगया होता यदि मुझे वे दिन स्मरण न होते जब मेरी मां मेरे हाथों को अपने हाथों में लेकर मुझ से कहलाती कि 'हे परमेश्वर! मेरी प्रार्थना सुन"। इसी प्रकार जान

न्यूटन (John Newton of Olney) नामक एक व्यक्ति बाल्यावस्था में अपनी माता से प्राप्त धर्मशिक्षा के संस्कार के बल से कुमार्ग में पड़ने से बच गया। थोड़ा सोचो तो कि एक माता के न रहने से तुम्हारा कितना सच्चा सुख चला गया। तुम्हें फिर वह सुख कहां मिलेगा जो प्रेम के परस्पर अनुसरण में मिलता है? माता का आलिंगन, माता की स्नेह दृष्टि-जिसमें परस्पर के भाव-परिचय का प्रमाण मिलता है-माता का मंद हास, सुख दुःख का कथन श्रवण फिर कहां? ये सब बातें गईं। इनसे तुम्हारा क्या लाभ होगा तुम यह समझने भी न पाए थे कि ये सब बातें चली गईं।

स्वार्थ दृष्टि से भी और परमार्थ दृष्टि से भी पारिवारिक स्नेह का अर्जन आवश्यक है। सच पूछिए तो इस प्रकार के अर्जन से मनुष्य स्वार्थपर होने से बचता है। यदि हम अपने सुख का ध्यान रक्खेंगे तो हमें अंत में दूसरों के सुख का ध्यान रखना ही पड़ेगा। अतः हम जो ऊपर कह आए हैं ठीक कह आए हैं कि परिवार एक पाठशाला वा शिक्षा देने वाली संस्था है जिससे सत्संस्कार में सहायता मिलती है, क्योंकि पारिवारिक सुख के लिये सब से पहली बात यह है कि प्रत्येक प्राणी आत्मनिग्रह का अभ्यास करे। यदि प्रत्येक प्राणी अपनी ही बात रखना चाहे, अपनी ही इच्छा के अनुसार सब कुछ होने का हठ करे, अपनी ही रुचि और प्रवृत्ति को सब के ऊपर रखना चाहे तो घर में सच्ची शांति कभी नहीं

रह सकती। जहां एक बार किसी का क्रोध भड़का कि सारा घर उद्विग्न और व्याकुल हो जायगा, प्रत्येक प्राणी की शांति भंग होगी। पारिवारिक संबंध के सुखपूर्वक निर्वाह के लिये युवा पुरुष को चाहिए कि वह बराबर आत्मसंवरण का उदाहरण दिखलावे, आवेग में आकर कोई बात मुँह से न निकाले, दूसरे की त्योरी न चढ़ने दे, और मीठे वचन बोले, जिसमें क्रोध शांत होता है। एक साधु के साथ कई दुर्जनों की रक्षा हो जाती है। घर में एक मधुरभाषी प्राणी, कोरस में एक निपुण गवैये के समान, सब को ठीक रखता है। बाहर उसके चित्त में क्रोध उत्पन्न करनेवाली चाहे कितनी ही बातें हुई हों, कितनी ही बातों से उसका जी दुखा हो पर युवा पुरुष जब घर के भीतर आवे तब शांत और प्रसन्नमुख आवे। वह कठोर नीति-संयम करे, अपनी चेष्टा को वश में रक्खे, अपनी ज़बान में लगाम लगा दे। हा! क्रोध की लाल आंखों और आवेग के कठोर वचनों से कितने अनर्थ होते हैं। युवा पुरुषों को 'लगती हुई बात' कहने की बड़ी रुचि होती है। प्रायः वे व्यंग्यपूर्ण उत्तर और चुटीली फबतियां किसी बुरी नीयत से नहीं बल्कि अपनी बुद्धि की तीक्ष्णता दिखाने के लिये मुंह से निकालते हैं। यह एक ऐसा दोष है जिससे उन्हें जहां तक हो सके बचना चाहिए। बात की चोट बड़ी गहरी होती है। जब तुम्हें लगती हुई चुटीली बात कहने का जी चाहे तब तुम इस बात को सोच लिया करो कि ऐसा

करने से थोड़ी देर के लिये तुम्हारा रंग तो बँध जायगा पर बहुत दिनों के लिये वैर ठन जायगा। एक महात्मा का वचन है कि 'अप्रिय सत्य बोलने से मौन रहना अच्छा है'। बहुतेरे घरों की यह चाल होती है कि उसके प्राणी, नए आदमियों के सामने भी एक दूसरे को जली कटी सुनाया करते हैं। अँगरेज़ी भाषा का अलौकिक गद्य लेखक कालहिल कहता है–"व्यंग्य या ताना मेरे देखने में शैतान की भाषा है, इसी से बहुत दिनों से मैंने उसे छोड़ दिया है"। जानसन का कथन है कि "किसी मनुष्य को दूसरे को कटु वचन कहने का उसी प्रकार अधिकार नहीं है जिस प्रकार उसे ढकेल देने का"।

पर चेष्टा और चितवन से जो रुखाई प्रकट की जाती है वह भी क्रोध से भरे हुए कटु वचनों से कम नहीं होती। हमें अपना मुंह ही नहीं बंद करना चाहिए, मनोवेगों को भी दबाना चाहिए। हमें स्वार्थ, ईर्षा, द्वेष और तुनुकमिज़ाजी को भी, कटु वचन और लाल आंखें जिनके बाहरी लक्षण हैं, दूर करना चाहिए। मिज़ाज ठीक रखना अपने आपको वश में रखने का ही नाम है, धीर प्रकृति, उदार हृदय और स्वच्छ चित्त का फल है। पास्कल कहता है—"मैं सब मनुष्यों के निकट सच्चा, ईमानदार और विश्वासपात्र होने का यत्न करता हूं। मेरा हृदय उनके प्रति कोमल रहता है जिनका हमारा परमात्मा ने घनिष्ट संबंध कर दिया है"। यही आत्म-निरोध का सच्चा तत्त्व है। न्यायपरायणता और सच्चाई ही बुद्धिमान पुरुष की धीर प्रकृति के अंग हैं। उनके साथ ही

यदि हमारा हृदय भी उनके प्रति कोमल हो जिनका हमारा साथ परमात्मा ने कर दिया हैं तो हमें परिवार के सच्चे सुख का अनुभव हो सकता है। हमें मानना और सहना चाहिए, एक दूसरे का ध्यान रखना चाहिए, एक दूसरे के संबंध में सच्चाई और ईमानदारी का व्यवहार करना चाहिए तथा हमें चित्त का कोमल होना चाहिए। हमें अपने भावों और मनोवेगों का शासनकर्त्ता होना चाहिए। युधिष्ठिर की जय और कीर्त्ति का लाभ अपूर्व आत्मनिरोध के कारण हुआ। दुर्योधन का नाश उद्धत प्रकृति और आत्मशासन के अभाव के कारण हुआ। पिता पुत्र, भाई बहिन आदि का नाता निवाहने के लिये हमें आत्मनिरोध को धारण किए रहना चाहिए जिसके सामने सब कठिनाइयां हवा हो जाती हैं। यह एक ऐसा रासायनिक तत्त्व है जो परस्पर भिन्न प्रकृति के पदार्थों को भी मिलाकर एक करता है। हर्बर्ट स्पेंसर ने कहा है " अपने आपको वश में रखने स ही पूर्ण मनुपत्व प्राप्त होता है। मनुष्य उद्वेगशील न हो, प्रत्येक वासना से प्रेरित हो कर इधर उधर न भटकने लगे, वहुत से भावों को शांतिपर्वक तौल कर अपना एक भाव स्थिर करे नैतिक शिक्षा इसी बात का प्रयत्न करती है "। प्रसिद्ध उपन्यास लेखक स्काट में ये सब गुण थे इसी से उसे परिवार का सच्चा सुख था। अपनी स्त्री, अपने लड़कों और अपने मित्रों के साथ उसका व्यवहार सदैव कोमल रहता था। वाहर से

चाहे वह कितना ही उद्विग्न और झुँझलाया हुआ आता था पर घर का चौखट लांघते ही वह मृदुल भाव धारण कर लेता था। जैसा कि प्रायः लोग करते हैं वह बाहर का गुस्सा अपने घर के प्राणियों पर आकर नहीं निकालता था। उनके सुख का वह सब से अधिक ध्यान रखता था। वह आदर्श भ्राता, आदर्श पुत्र, आदर्श पति और आदर्श पिता था। उसके चरितलेखक ने लिखा है—" उसके घर में स्मृतिचिह्न के रूप में उसकी माता के पुराने ढंग के पिटारे, उसके हाथ की लिखी चिट्ठियां जिनमें उसके उन भाई बहिनों के बाल रक्खे थे जो माता की मृत्यु के पहले ही मर चुके थे, उसके बाप की सुंघनीदानी तथा इसी प्रकार की और भी बहुत सी वस्तुएँ यत्नपूर्वक रक्खी थीं। उसके जीवनचरित में इसी प्रकार की बहुत सी बातें मिलेंगी। उन सब से उस गूढ़स्नेह का पता लगेगा जिसके कारण उसमें उतना आत्मसंवरण था तथा उस त्याग का परिचय मिलेगा जो परिवार के सुख शांति और स्नेह को बढ़ाता है।

उत्तम व्यवहार की वह पूर्णता भी जिसे शिष्टता कहते हैं आत्मनिग्रह से कम आवश्यक नहीं है। इस विषय में भी स्काट आदर्शस्वरूप था। एक महाशय उसके विषय में लिखते हैं—" लोगों के साथ व्यवहार करने में जो शिष्टता मैंने उस में देखी है वह किसी में नहीं देखी। उसका व्यवहार इतना सादा और स्वाभाविक होता था और उसके शील का लोगों

पर इतना प्रभाव पड़ जाता था कि लोग अपने आप को भूल जाते थे और उसके इस गुण को लक्ष्य नहीं कर सकते थे" शिष्टता पुरुषार्थ का चिह्न है। ग़रीब, अमीर, नौकर चाकर, घर का प्राणी कोई हो सब का बराबर ध्यान रखना चाहिए, सब के साथ प्रसन्नता, स्नेह और कोमलता का व्यवहार करना चाहिए।

मैंने जिस शिष्ट व्यवहार का ऊपर वर्णन किया है वह प्रचलित अदब क़ायदे से भिन्न है। बहुत से अदब क़ायदे वालों में सच्ची और उच्च कोटि की शिष्टता उतनी भी नहीं होती जितनी एक ग्रामीण किसान में होती है। सच्ची शिष्टता उसमें समझनी चाहिए जो दूसरों का ख़्याल करके तब अपना ख़्याल करता है, जो अपने पड़ोसी को आगे करता है और आप पीछे रहता है, जो दूसरों को बोलते देख कर स्वयं चुप होकर सुनता है, जो धैर्य्य ऐसे अलौकिक गुण को धारण करता है। शिष्टता का सारा सिद्धांत यह है कि हमें दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा कि हम चाहते हैं कि दूसरे हमारे साथ करें। पूर्ण शिष्टता धार्मिक पुरुषों में देखी जाती है। उनमें चित्त की उदारता और आत्मशासन की शक्ति बहुत कुछ पाई जाती है। शिष्टता का एक अत्यंत आवश्यक अंग है विनय या नम्रता। अपने आपको बड़ा लगाना शिष्ट व्यवहार का बाधक है। किसी किसी घर में देखा जाता है कि चार छ महीने के समाज-संसर्ग से संसार

की ऊपरी बातों का थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त कर के पुत्र अपने को अपने माता पिता से, भाई अपने को अपनी बहिन से बढ़ कर लगाने लगता है। थोड़े ही दिन समाज की गंदी हवा खाकर किसी किसी नवयुवक का मिज़ाज इतना बिगड़ जाता है कि वह अपनी बहिनों को अंधी भेंड़ और माता पिता को "पुराने खूसट" समझने लगता है। इसी से उसके व्यवहार में उग्रता आ जाती है और मान सम्मान तथा शिष्टता का अभाव दिखाई देने लगता है। वह समझता है कि ऐसे साधारण लोगों के साथ बहुत शिष्टता दिखाने की आवश्यकता नहीं। पर पुरुषार्थ या वीरत्व हमें यह सिखाता है कि हम स्त्रियों के साथ स्नेह और आदर का व्यवहार करें और धर्म यह सिखाता है कि हमें अपने माता पिता का सम्मान करना चाहिए। धर्म इस बात का आग्रह करता है कि हम उनकी सारी उचित आज्ञाओं का पूर्ण तत्परता के साथ पालन करें, जब उनका और हमारा मत न मिले तब हम उनके अधिक अनुभव को मान लें और यह समझ लें कि उन्होंने जो बात कही है वह अधिक सोच विचार के साथ कही है। नम्रता माता पिता के प्रति हमारे स्नेह की भी सारभूत वस्तु है और शिष्टता की भी। हमारे यहां गोस्वामी तुलसीदास जी कैसे धर्मपरायण और निर्मल चरित्र के महात्मा हो गए हैं। उन्हों ने रामचरितमानस के आरंभ में अपनी नम्रता और विनय का कैसा सुंदर परिचय दिया है—

कवि न होउं नहीं चतुर कहावों।
मति अनुरूप राम गुन गावों॥

एक ईसाई महात्मा का नम्रता के विषय में इस प्रकार का उपदेश है—"नम्र मनुष्य अपनी बुद्धि पर भरोसा नहीं करता बल्कि अपने गुरू और मित्रों के निर्णय पर चलता है। वह हठपूर्वक अपनी ही इच्छा के अनुकूल नहीं चलता वल्कि जिन बातों से अपने बड़ों का संबंध होता है उन्हें उन्हीं के ऊपर छोड़ देता है। वह आज्ञापालन में चूंचकार नहीं करता। वह किसी आज्ञा के औचित्य की जिज्ञासा नहीं करता, उसे उचित ही समझता है। वह अपने आचरण, संकल्प, और विचार से कभी संतुष्ट नहीं रहता। वह बातचीत संकोच के साथ करता है। जब कोई उसे अकारण या किसी कारण से भला बुरा कहता है तब वह उसका कड़ुआ और तीखा उत्तर नहीं देता"। नम्रता का यह गुण ऐसा है जिसकी ओर आज कल के नवयुवक कुछ ध्यान नहीं देते। इन चोखे नवयुवकों के निकट, जो भूमंडल के प्रत्येक विषय के आचार्य्य आप बनते हैं, जो अपनी सम्मति ब्रह्मवाक्य के समान अटल निश्चित करके देते हैं और जो पुरानी बातों और पुराने निश्चयों का बड़ी घृणा के साथ तिरस्कार करते हैं, नम्रता एक अत्यंत तुच्छ और भद्दा गुण है। वे अपने को इतना नहीं गिरा सकते कि नम्रता धारण करें। ऐसे लोग एक परम धार्मिक महात्मा की इन बातों पर कितना हँसेंगे—"मैं चाहता हूं कि

तुम अपनी दृष्टि में अपने को अत्यंत दीन और तुच्छ,—कपोत की तरह दीन और तुच्छ—समझो। जब अवसर मिले तब अपने को नम्र करने से न चूको। बोलने में तेज़ी न करो वरन् अपना उत्तर धीरे से विनय और नम्रता के साथ दो। अपने संकोचपूर्ण मौन ही को "अपना बोलना समझो"। यह एक झूठी धारणा फैली हुई है कि कड़क कर बोलना खूब हाथ पैर झटपटना और 'विधि निषेध' का भाव प्रकट करना 'पुरुषार्थ' के चिह्न हैं और 'सांसारिक अनुभव' के बाहरी लक्षण हैं। महाराज रणजीतसिंह के समान अनुभवी और पराक्रमी कौन होगा पर उनकी नम्रता के दृष्टांत प्रसिद्ध हैं। रहीम खानख़ाना जैसे विद्वान् थे वैसे ही वीर भी थे पर उनकी रचनाओं से कितनी मिठाई और नम्रता टपकती है। सच तो यों है कि पुरुषार्थ और पराक्रम के साथ यदि नम्रता भी हो तो 'सोने में सुगंध' समझना चाहिए। पराक्रमी पुरुष विनीत होते हैं क्योंकि नम्रता और उदारता से उनके पराक्रम की शोभा होती है।

जिस प्रकार नम्रता शिष्टता का एक अंग है उसी प्रकार उदारता भी—दोनों भलेमानुस के गुण हैं। पाठक यह न समझें कि उदारता से मेरा अभिप्राय खूब हाथ खोल कर ख़र्च करने से है। खुली मुट्ठीवालों का स्वभाव भी कभी कभी बड़ा ओछा होता है। उदारता उन्हीं लोगों में होती है जिनके हृदय का संस्कार अच्छा होता है। ऐसी उदारता वाला मनुष्य

वह भी किसी की बुराई नहीं सोचता, दुर्बल और अत्याचार पीड़ित प्राणियों की रक्षा करता है, किसी के विषय में झूठे अपवाद की ओर ध्यान नहीं देता, दूसरे के कार्यों और वचनों को अच्छे भाव में लेता है, दूसरों पर खोटी आशंका नहीं करता। भद्र पुरुषों का मिलना उतना सहज नहीं है जितना लोग समझते हैं क्योंकि उदारता का गुण इस संसार में दुर्लभ है। भद्र पुरुष होने के लिये मनुष्य को क्या क्या होना चाहिए? भद्र पुरुष होने के लिये मनुष्य को ईमानदार और खरा होना चाहिए, कोमल होना चाहिए, उदार होना चाहिए, साहसी होना चाहिए, बुद्धिमान् होना चाहिए, तथा इन सब गुणों को धारण करके उनका सुंदर उपयोग करना चाहिए।

मैं चाहता हूं कि वह शिष्टता जिसे मैंने नम्रता और उदारता के आधार पर स्थित और धर्म्मबल का एक अंग बतलाया है घर में भी बर्त्ती जाय। मैं चाहता हूं कि उसका प्रकाश परिवार में भी फैले और सब प्राणियों को सुखी और प्रफुल्लित करे। बाहर संसार में बड़े बड़े कार्य्य करने को उद्यत होने के पहले वह अपना पराक्रम और धीरता घर में क्यों न दिखा ले? बहुत से नवयुवक केवल सामाजिक शिष्टता धारण किए रहते हैं। वे जब बाहरी लोगों से मिलते जुलते हैं तब बड़े शील संकोच और नम्रता का व्यवहार करते हैं, पर ज्यों ही वे अपने घर की चौखट लांघते हैं वे अपना रूप बदल देते हैं। तब

यही मुंह जो कुछ घड़ी पहले सँभल कर और धीमे स्वर में बोलता था, कर्कश और ऊंचे स्वर में बोलने लगता है, वही भाव जो कुछ क्षण पहले विनीत और नम्र था कठोर और उग्र हो जाता है। प्रायः यह समझा जाता है अपने घर के बीच में शिष्टाचार बर्त्तने की आवश्यकता नहीं, अपने कुटुंबियों के सामने बहुत शिष्ट और परिष्कृत व्यवहार व्यर्थ का एक आडंबर है और दूसरों के माता पिता के प्रति जैसा आदर सम्मान दिखाया जाता है वैसा अपने माता पिता के सामने दिखाना मूर्खता है। इसका मतलब यही हुआ कि अपने माता पिता भाई आदि के साथ वैसा व्यवहार करना आवश्यक नहीं जैसा भलेमानुसों के साथ किया जाता है। इससे बढ़कर भूल और क्या हो सकती है। शिष्टता के व्यवहार से परिवार में शांति और मेल ही नहीं रहता बल्कि हम उदार आचरण करने में अभ्यस्त होते हैं तथा सोच विचार कर और धैर्य के साथ कार्य्य करना सीखते हैं। यह उस नीति शिक्षा की दूसरी सीढ़ी है जिसके विषय में हम ऊपर कह आए हैं। अस्तु, यह एक बात निश्चित हुई कि आत्मदमन और शिष्टता के द्वारा परिवार के सुख की वृद्धि हो सकती है।

एक तीसरा गुण जो इनमें और जोड़ा जा सकता है वह प्रफुल्लता है। 'घरेलू शिक्षा' नाम की अपनी पुस्तक में ऐज़क टेलर नामक एक अंगरेज़ लेखक ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि परिवार की सुख-वृद्धि के लिये माता पिता में कुछ प्रफुल्लता

और क्रीड़ा कौतूहल भी चाहिए। वह कहता है. "जिस प्रकार माता अपने बच्चों के प्रेम को उनके साथ विनोद और लाड़ प्यार कर के चमकाती और सुरक्षित रखती है उसी प्रकार पिता भी मर्य्यादापूर्वक थोड़े बहुत खेल कूद द्वारा उनके उत्साह को बढ़ाकर अपने शासन को प्रिय बना सकता है। वह पिता जिसमें यह गुण हो अवकाश या भोजन के समय अथवा बगीचे में टहलते हुए अपने लड़कों के साथ भद्दे पन को बचाता हुआ विनोद या खिलवाड़ के ढंग की बात चीत छेड़े और चुटकुले कहानियों आदि से उनका मन बहलावे। पर बहुत कम माता पिता ऐसे होते हैं जो अपने परिवार के मनोरंजन के लिये ऐसी मनोहर युक्ति काम में लाना जानते हैं, और बहुत कम परिवार ऐसे हैं जो इसके आनंद का अनुभव कर सकते हैं। पर परिवार में प्रफुल्लता उत्पन्न करने के लिये यह युक्ति बड़े काम की है और इससे परिवार का सुख बढ़ सकता है। हर्बर्ट कहता है "मीठे वचन बोलने में कुछ लगता नहीं पर उन का मोल बड़ा होता है"। प्रफुल्लित वचन ही अच्छे वचन हैं क्योंकि उनसे आशा उत्तेजित होती और धैर्य पुष्ट होता है। पर यह नहीं कि माता पिता ही अच्छे और मीठे वचन बोलें. पुत्र को भी मीठे वचन बोल कर स्नेह और कर्त्तव्य दृष्टि से अपने माता पिता को उनकी अवस्था की उतरानी में सहारा देना चाहिए। क्या वह अपने अवकाश का थोड़ा बहुत समय अपने परिवार की प्रसन्नता के लिये नहीं लगा सकता? मान

लीजिए कि घर में कोई बीमार है या कोई विपत्ति आई है। ऐसी दशा में वह धीरचित्त प्रसन्नमुख आशाभरी दृष्टि और उत्साहपूर्ण मुसकराहट के साथ घर में आवे। फिर देखिए कि निर्बल को कितना सहारा हो जाता है, मरा हुआ मन कैसा हरा हो जाता है और बुड्ढों में कितनी शक्ति आ जाती है। यदि परिवार में किसी प्रकार की विघ्न बाधा नहीं है तो भी उसकी प्रफुल्लता से परिवार के आनंद की वृद्धि होगी, यदि हँसी में वह योग दे देगा तो हँसी और जी खोलकर होगी, यदि आमोद प्रमोद में वह सहायता दे देगा तो वह और भी धूमधाम से होगा। ऐसा न करो कि अपने निज के आमोद प्रमोद वा लिखाई पढ़ाई के आगे तुम अपने परिवार के आमोद प्रमोद में कभी सम्मिलित ही न हो। जब तक तुम घर से बहुत दूर नहीं हो तब तक अपने घर को घर समझो और ऐसा करो कि उसके निर्दोष आमोद प्रमोद में तुम्हारी प्रफुल्लता का भी कुछ भाग रहे। यूरोप के प्रसिद्ध धर्मप्रवर्त्तक लूथर ने कहा है, "विनोद और साहस, अर्थात् विचारपूर्ण विनोद मर्य्यादापूर्ण साहस बुड्ढे और जवान सब के लिये उदासी की अच्छी दवा है"। यदि कोई युवा पुरुष यह जानना चाहे कि क्या उसके आमोद प्रमोद निर्दोष और आशय उदार हैं, क्या उसका हृदय वैसा ही पवित्र है जैसा लड़कपन के भोलेपन में था तो उसे यह सोच कर देखना चाहिए कि 'क्या उसका प्रेम घर में पहले ही का सा है और क्या उसका मन घर के कामों में,

उसके आमोद प्रमोद में, उसी प्रफुल्लता के साथ लगता है जिस प्रफुल्लता के साथ पहले लगता था। जब किसी नवयुवक का चित्त घर से ऊब जाय, जब घर के व्यवहार में उसे आनंद न मिलने लगे तो उसे निश्चय समझ लेना चाहिए कि उसमें बुराई आ गई है और उसका चित्त चंचल है। फिर तो उसे शांति और पवित्रता के लिये तरसना होगा जो उसे फिर नहीं मिलने की।

जो लोग परिवार के सुख की वृद्धि किया चाहते हैं उन्हें सहानुभूति भी रखनी चाहिए। एक धार्मिक कवि की माता के विषय में कहा जाता है कि वह अपने परिवार का शासन ऐसी मृदुलता से करती थी और लड़कों के मनबहलाव का इतना प्रबंध रखती थी कि वे अपना बहुत सा समय प्रसन्नता-पूर्वक उसी के साथ बिताते थे। वे उसकी सहानभूति देखकर उसकी ओर आकर्षित होते थे। यही सहानुभूति का गुण है जिसके कारण बच्चे पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों से अधिक हिले मिले रहते हैं। यह सहानुभूति उनकी प्रत्येक भावना, रुचि, और आकांक्षा के प्रति होती है। यही सहानुभूति का मंत्रबल है जिससे बच्चे मोहित रहते हैं। यदि युवा पुरुष भी अपने पारिवारिक संबंध में इस सहानुभूति का संचार करें जैसा कि बड़े और अच्छे लोग करते थे तो वे थोड़े ही दिनों में देखेंगे कि उनके नित्य प्रति के जीवन पर कैसी सुहावनी रंगत चढ़ गई है। आधे क्या आधे से अधिक मनमोटाव जिसके

कारण परिवार की शांति भंग होती है, आधे से अधिक संदेह जिनके कारण परस्पर का विश्वास उठ जाता है, सहानुभूति के अभाव से उत्पन्न होते हैं। कुछ गर्व और कुछ संकोच में पड़कर पुत्र पिता से किनारा खींचे रहता है, भाई बहिन से तटस्थ रहता है—इस प्रकार अंतर बढ़ता जाता है और पारिवारिक स्नेहरूपी अमूल्य धन का नाश हो जाता है। पर एक परिवार के प्राणियों का हानि लाभ एक दूसरे से पृथक् नहीं होना चाहिए, उनके आमोद प्रमोद, उनकी आशाएं, उनके हौसले, जहां तक हो सके सम्मिलित रूप में हों। उन्हें एक दूसरे के हृदय के आंतरिक सौरभ का भागी होना चाहिए।

सहानुभूति की इस शक्ति के विषय में जिसके प्रभाव से अन्तःकरण में और घर में स्नेह का ज्योति जगती है, जर्मी टेलर ने क्या अच्छा कहा है कि "प्रत्येक मनुष्य का आनंद दूना हो जाता है यदि उस आनंद का भागी कोई और मिल जाता है। मेरा मित्र मेरे दुःख को बँटा कर तो आधा कर देता है पर सुख को दूना कर देता है, दो निकास एक नदी की धारा को कम कर देते हैं पर दो बत्तियां एक दीपक की ज्योति को बढ़ा देती हैं। मेरी आखों के आंसू करुणा के सहारे मेरे मित्र की आंखों की राह से भी निकल कर जल्दी सूख जाते हैं पर मेरे आनंद की ज्योति के साथ मेरे मित्र के आनंद की ज्योति मिल कर प्रकाश को बढ़ा देती है, क्योंकि दोनों ज्योतियां मिल कर चमकती हैं"। अपने परिवार के साथ व्यवहार करने में सहा-

नुभूति की शक्ति का उपयोग करके युवा पुरुष अपने आनंद को दूना कर सकते हैं और अपनी चिंताओं को कम कर सकते हैं। यदि वे अपने छोटे भाइयों की पढ़ाई लिखाई, बड़े भाइयों के काम काज में, माता पिता के उद्योग यत्न की ओर भी ध्यान दें और मन लगावें तो उनके लिये आनंद का एक नया मार्ग खुल जाय, और पारिवारिक जीवन में एक नया रंग ढंग दिखाई दे। इसके द्वारा उनका हृदय भी परिष्कृत होगा और उन की बुद्धि भी बढ़ेगी। पढ़ाई लिखाई वा काम काज के अवकाश में इस प्रकार की नई तत्परता पुटई का काम देगी जिससे अपने नियमित कार्य्य के संपादन के लिये शरीर में अधिक बल और फुरती आवेगी। करुणा, सहानुभूति आदि हृदय के उत्तम गुणों के निरंतर अभ्यास से स्नेह शिथिल और धीमा नहीं पड़ने पावेगा, कठोर स्वार्थपरता नहीं आने पावेगी जिससे सैकड़ों युवा पुरुषों का जीवन कडुआ हो जाता है।

घर में भी युवा पुरुषों को बातचीत करने का ढंग सीखना चाहिए। यह एक ऐसा गुण है जिसे कोई सिखाता भी नहीं और जिसे बहुत लोग अर्जित भी नहीं करते। इस गुण के बिना लोग न्योते और उत्सव आदि में जाते हैं, रेल पर यात्रा करते हैं पर एक दूसरे का मुंह ताकते रहते हैं। संयोग वश कोई चतुर मनुष्य बोल उठा तो बोल उठा और कोई ऐसी चर्चा छेड़ सका जिसमें सब का मन लगे और बातचीत कुछ देर तक उत्साह और धूम के साथ चले। पर ऐसे लोग कम

मिलते हैं और इस कमी का फल यह होता है कि लोग बहुधा उत्सव आदि में जाते हैं पर न तो कोई नई बात जान सकते हैं और न किसी पुरानी बात पर तर्क वितर्क करने का अवसर पा सकते हैं। पर जो मनुष्य विचारपूर्वक—नोक झोंक के साथ न सही—बातचीत करना जानता है वह सर्वत्र सर्वप्रिय रहता है। बातचीत करने का गुण प्राप्त करना कुछ कठिन नहीं है। जिस प्रकार अभ्यास के बिना तुम अच्छा लिख नहीं सकते उसी प्रकार अभ्यास के बिना अच्छे ढंग से बातचीत नहीं कर सकते। अतः उसका अभ्यास घर ही में परिवार के बीच से आरंभ कर दो। जब जाड़े के दिनों में घर के सब किवाड़ बंद करके एक स्थान पर आग जला कर परिवार के छोटे बड़े सब कुछ काल के लिये एकत्रित होकर बैठते हैं तब तुम भी उनके बीच बैठ कर मनोरंजन, बुद्धिमानी, और विनोद से भरी बातचीत चलाने का प्रयत्न करो। कवि-शिरोमणि शेक्सपियर ने अच्छी बातचीत का लक्षण इस प्रकार कहा है—"बातचीत प्रिय हो पर ओछी न हो, चुहल की हो पर बनावट लिये न हो, स्वच्छंद हो पर अश्लील न हो, विद्वतापूर्ण हो पर दंभयुक्त न हो, अनोखी हो पर असत्य न हो"। सर विलियम टैंपल ने वार्तालाप के जो अंग निर्धारित किए हैं वे ये हैं—"पहली बात तो सच्चाई है, दूसरी बात समझदारी, तीसरी चोज़, और चौथी चतुराई है। उक्ति और चतुराई के साथ बातचीत करना चाहे तुम्हें न आवे पर तुम शील सकोच

और समझदारी के साथ बातचीत कर सकते हो। जिसमें बातचीत की चतुराई स्वाभाविक नहीं है उसका बनावटी चतुराई दिखाना बहुत बुरा लगता है। बातचीत केवल अपने को कुछ प्रकट करने के लिये नहीं करनी चाहिए। बातचीत का अर्थ यह है कि अपनी अपनी ओर से सब लोग कुछ कहें। अच्छा बातचीत करने वाला जिस तरह अपनी कहना जानता है उसी तरह दूसरों की सुनना जानता है, जिस तरह स्वयं बातचीत में लगना जानता है उसी तरह दूसरों को बातचीत में लगाना जानता है, जिस तरह आप बोलना जानता है उसी तरह दूसरों को बुलाना जानता है। एक अनुभवी कवि का वचन है—दूसरों की सुनना भी एक बड़ा भारी काम है, इसी में बातचीत का गुण देखा जाता है और इसी से नम्रता और बुद्धिमानी आती है।

आज कल जब कि संवादपत्रों की अधिकता हो रही है तुम यह बहाना नहीं कर सकते कि हमें बातचीत करने को कोई विषय ही नहीं मिलता। किसी ग्रंथकार की नव-प्रकाशित पुस्तक, किसी राजनीतिज्ञ का व्याख्यान, समाज संशोधन का कोई उद्योग, विज्ञान का कोई आविष्कार, देश की उन्नति का उपाय—ये सब ऐसे विषय हैं जो अवकाश के समय के लिये बहुत हैं और जिन पर तर्क वितर्क करने से तुम्हें और तुम्हारे परिवार के लोगों को भी लाभ पहुंच सकता है।

कई बड़े लोगों का कथन है कि सौ में से निन्नानवे बातों की जानकारी उन्हें बातचीत से प्राप्त हुई। अकबर, शिवा जी, रणजीत सिंह आदि कई बड़े बड़े राजा और बादशाह कुछ पढ़े लिखे न थे पर अपने समय के बड़े बड़े धुरंधर विद्वान् और बुद्धिमानों के सत्संग से उनकी जानकारी बहुत बढ़ी चढ़ी थी। बेकन (Lord Bacon) कहता है "सत्संग या बातचीत से मनुष्य उद्यत बुद्धि का होता क्योंकि उसके लिये मनुष्य को अपनी जानकारी इस प्रकार उपस्थित रखनी पड़ती है जिसमें जब अवसर पड़े तब उसे काम में ला सके"। बेकन ने बातचीत के लिये बहुत से विषय बतलाए हैं जो जानकारी के अधीन हैं। वह कहता है, "बातचीत का अच्छा ढंग यह है कि प्राप्त प्रसंग के साथ कुछ तर्क भी मिला रहे, दृष्टांतों और कथाओं के साथ युक्ति भी रहे, प्रश्नों के साथ सम्मति भी प्रकाशित की जाय और हँसी दिल्लगी के साथ कुछ काम की बात भी रहे। क्योंकि एक ही बात को लेकर बहुत बढ़ाना जिससे लोगों का जी ऊबे, बुरा जान पड़ता है"। आत्म-संस्कार के लिये बातचीत किस प्रकार उपयोगी हो सकती है यह भी बेकन ने बतलाया है। जैसे—"वह जो पूछता बहुत है बहुत जानेगा और बहुत सन्तुष्ट होगा, विशेष कर जब वह अपने प्रश्नों को इस ढंग से पूछता है कि जिनसे पूछता है उनका गुण उत्तेजित होता है। वह उन्हें बोलने का आनंद उठाने का अवसर देता है और आप ज्ञान संचित करता जाता है"।

बातचीत से एक लाभ और होता है। इससे अध्ययन का ज्ञान बढ़ाने की उत्तेजना मिलती है। जब कि तुम चाहते हो कि दूसरे लोग बोल कर तुम्हें आनंदित करें और तुम्हारी जानकारी बढ़ावें तब तुम्हें भी यह ध्यान अवश्य होगा कि तुम भी बोल कर उन्हें आनंदित करो और उनकी जानकारी बढ़ाओ। इसके लिये तुम्हें सामग्री एकत्रित करने का प्रयत्न करना पड़ेगा। बातचीत एक ऐसी बाज़ी है जिसमें सब को कुछ न कुछ लगाना पड़ता है क्योंकि उसमें सब का स्वार्थ रहता है।

घर ही एक ऐसा स्थान है जहां तुम सौंदर्य्य भावना का विकाश कर सकते हो, कला कौशल की रुचि संपादित कर सकते हो। स्कूल में तुमने थोड़ी बहुत ड्राइंग या चित्रकारी सीखी होगी और वस्तुओं के भद्दे ढांचे बनाना जानते होगे अथवा संगीत ही में कुछ स्वर-ग्राम आदि सीखा होगा। अपनी उस अल्प शिक्षा को तुम घर में अभ्यास द्वारा बढ़ा सकते हो। संभव है कि तुम्हारे घर का कोई प्राणी तुम्हें उसमें सहायता दे सके, नहीं तो आप अभ्यास करो। अभ्यास ही से मनुष्य पूर्णता प्राप्त करता है। तुम्हें इस अभ्यास में सहायता देने के लिये आज कल थोड़े ही ख़र्च में बहुत से साधन उपलब्ध हो सकते हैं। मैं इस बात को आग्रह के साथ कहता हूं कि प्रत्येक युवा पुरुष को कोई न कोई कला अवश्य सीखनी चाहिए। उससे केवल अलौकिक

जीवन को पांच प्रकार के कामों में इस प्रकार बांटा है—"पहले वे कर्म्म जिनसे आत्मरक्षा होती है, दूसरे वे कर्म्म जो जीवन निर्वाह की सामग्री संपादित करके आत्मरक्षा के निमित्त किए जाते हैं, तीसरे वे कर्म्म जो संतान के पालन और शिक्षा के निमित्त किए जाते हैं, चौथे वे कर्म्म जो सामाजिक और राजनैतिक संबंधों के निर्वाह के हेतु किए जाते हैं और पांचवें वे फुटकर कर्म्म जो अवकाश के अवसरों पर किए जाते हैं और जिनसे रुचि और भावनाओं की तुष्टि होती है"। इस प्रकार कला का संपादन वा अध्ययन पांचवीं कोटि में आता है। पर यद्यपि उसका स्थान गौण रक्खा गया है पर मैं उसके महत्व पर बहुत ज़ोर देता हूं। मनुष्य रोटी ही पर नहीं रह सकता। उसकी कल्पना उत्तेजित होनी चाहिए, उसके भाव जागृत होने चाहिएं। सौंदर्य्य का भाव पवित्रता और सत्यता के भाव से अलग नहीं है। यदि कलावान के चरित्र अच्छे नहीं हैं तो उसकी कला को अवश्य क्षति पहुंचेगी। उत्कृष्ट कला सदा सत्य और पवित्रता लिए होगी। अतः नैतिक और मानसिक शिक्षा के लिये, तथा अधिक अध्ययन वा काम काज की चिंता से थके हुए मस्तिष्क के विश्राम के लिये कला का संपादन अत्यंत आवश्यक है।

यदि तुम्हें संगीत न आवे तो चित्रकारी ही लो, यदि वह भी अरुचिकर वा असंभव हो तो मिट्टी के खिलौने बनाओ, फूल पत्ते सजाओ—सारांश यह कि ऐसी बातें करो जिनसे

और पवित्र आनंद ही नहीं प्राप्त होगा बल्कि भावी कामों से अवकाश पाने पर पूरा विश्राम मिलेगा, मन बहलेगा। सच्चा विश्राम हाथ पर हाथ रख कर बैठने में नहीं है बल्कि कार्य्यों को बदलते रहने में है। वैज्ञानिक छान बीन, नित्य के व्यवसाय, अथवा विदेशी भाषा के अध्ययन में लगे रहने के उपरांत चित्त को स्वस्थ और सशक्त करने का मेरी समझ में इससे बढ़ कर और कोई उपाय नहीं है कि वीणा या हारमोनियम लेकर बैठ जाय अथवा किसी बड़े चित्रकार के चित्र को सामने रख कर उसकी छाया उतारने लगे। यदि कल्पना और मनोवेगों के पोषण और परिष्कार की ओर ध्यान न दिया जायगा तो बुद्धि अवश्य अपूर्ण और अपरिष्कृत रहेगी। कला के अध्ययन से अंतःकरण की सारी शक्तियां खुल पड़ती हैं। क्या हम बड़े बड़े संगीताचार्य्यों की उन शिक्षाओं की ओर कान न दें जो उनके मधुर आलाप और जटिल स्वरों से मिलती हैं? क्या हम उन सुंदर, उदार और महत्वपूर्ण वस्तुओं से आंख उठा कर न देखें जो बड़े बड़े चित्रकारों के भावपूर्ण पटों पर अंकित रहती हैं। कला की रुचि हमारे गूढ़ से गूढ़ मनोवेगों में, हमारी प्रकृति के पवित्र और सुंदर अंशों में ऐसी प्रेरणा उत्पन्न करती है, विवेक को दृढ़ करती हुई कल्पना को इतना संतुष्ट करती है तथा चिंतना शक्ति को इस प्रकार उत्तेजित और आलोचना शक्ति को इस प्रकार तीव्र करती है कि उसे पुष्ट और परिष्कृत करना हमारा परम कर्त्तव्य है। हर्बर्ट स्पेंसर ने मनुष्य

जीवन को पांच प्रकार के कामों में इस प्रकार बांटा है–"पहले वे कर्म्म जिनसे आत्मरक्षा होती है, दूसरे वे कर्म्म जो जीवन निर्वाह की सामग्री संपादित करके आत्मरक्षा के निमित्त किए जाते हैं, तीसरे वे कर्म्म जो संतान के पालन और शिक्षा के निमित्त किए जाते हैं, चौथे वे कर्म्म जो सामाजिक और राजनैतिक संबंधों के निर्वाह के हेतु किए जाते हैं और पांचवें वे फुटकर कर्म्म जो अवकाश के अवसरों पर किए जाते हैं और जिनसे रुचि और भावनाओं की तुष्टि होती है"। इस प्रकार कला का संपादन या अध्ययन पांचवीं कोटि में आता है। पर यद्यपि उसका स्थान गौण रक्खा गया है पर मैं उसके महत्व पर बहुत ज़ोर देता हूं। मनुष्य रोटी ही पर नहीं रह सकता। उसकी कल्पना उत्तेजित होनी चाहिए, उसके भाव जागृत होने चाहिएं। सौंदर्य्य का भाव पवित्रता और सत्यता के भाव से अलग नहीं है। यदि कलावान के चरित्र अच्छे नहीं हैं तो उसकी कला को अवश्य क्षति पहुंचेगी। उत्कृष्ट कला सदा सत्य और पवित्रता लिए होगी। अतः नैतिक और मानसिक शिक्षा के लिये, तथा अधिक अध्ययन वा काम काज की चिंता से थके हुए मस्तिष्क के विश्राम के लिये कला का संपादन अत्यंत आवश्यक है।

यदि तुम्हें संगीत न आवे तो चित्रकारी ही लो, यदि वह भी अरुचिकर वा असंभव हो तो मिट्टी के खिलौने बनाओ, फूल पत्ते सजाओ—सारांश यह कि ऐसी बातें करो जिनसे

सौंदर्य्य का प्रेम तुम्हारे चित्त में बना रहे। मेरी दृष्टि में तो संगीत से बढ़ कर आल्हाददायिनी और आशय को उच्च करने वाली सरी कला नहीं है। इससे तन और मन दोनों को विश्राम मिलता है। ज्यों ज्यों बाजे पर उंगलियां फिरती हैं त्यों त्यों हृदय भी आनंद से उछलता है। संगीत उत्साह बढ़ाता है, विचारों को ठिकाने करता है, श्रवणों को सुख देता है, चित्त को विश्राम देता है। यह हमें आगे आने वाले कामों के करने को उपयुक्त ही नहीं करता बल्कि प्रात काल में भी हमारे हृदय को पवित्र और उत्तम भावों से पूर्ण करता है। अतः जितना ही संगीत का स्वर मेरे कानों में मधुर होता जाता है उतनाही सत्य का प्रवाह मेरे हृदय में स्वयं होता जाता है। बड़े बडे विद्वानों वीरों और नीतिज्ञों को संगीत से अपार आनंद मिलता था। इसी संगीत के आनंद से मुग्ध होने के लिये अकबर तानसेन के पीछे पीछे स्वामी हरिदास की कुटी पर गया। सूरदास के भगवतप्रेम का प्रवाह संगीत के रुप में बहा। अंगरेज़ कवि मिल्टन सांसारिक झंझटों और लोगों के मिथ्या अपवादों से खिन्न होकर अपने श्रांत चित्त को आरगन बाजे से बहलाता था। उसने औरों को यही करने का उपदेश दिया है। वह कहता है "विश्राम का समय यदि श्रांत चित्त को संगीत के मधुर आलाप द्वारा स्थिर और शांत करने में लगाया जाय तो बहुत लाभ और आनंद प्राप्त हो सकता है। ...... वाद्य के बीच में जो गीत कानों में पड़ते हैं उनमें स्वभाव और

चेष्टा को कोमल करने की बड़ी शक्ति है"। संगीत का कुछ अभ्यास अवश्य करना चाहिए। संसार के बहुत से अच्छे कवि और ग्रंथकार संगीत से पूरा आनंद उठाते थे।

लोगों में एक सिद्धांत प्रचलित हो गया है जिससे साधारण शिक्षा और संस्कार को बड़ी हानि पहुंचती है। वह सिद्धांत यह है कि एक से अधिक बातों में प्रवीणता प्राप्त करना असंभव है। बहुत से दुनियादार बाप अपने बेटों से कहा करते हैं "राग रंग से दूर रहो, कोई कला आदि न सीखो, अपने काम को छोड़ और किसी काम में प्रवीण होने का यत्न न करो" और इस प्रकार उनके स्वभाव को संकीर्ण और लोभी बना कर उन्हें उस आनंद और उन्नति से वंचित करते हैं जो केवल एक कार्य्य में निपुण होने से नहीं प्राप्त हो सकती। इसीसे मैं कहता हूं कि घर पर के मन बहलाव के लिये तुम कोई न कोई कला अवश्य सीखो

दूसरा प्रकरण ।

सांसारिक जीवन ।

जब कोई युवा पुरुष अपने घर से बाहर निकल कर बाहरी संसार में अपनी स्थिति जमाता है तब पहली कठिनता उसे मित्र चुनने में पड़ती है। यदि उसकी स्थिति बिलकुल एकांत और निराली नहीं रहती तो उसकी जान पहचान के लोग धड़ाधड़ बढ़ते जाते हैं और थोड़े ही दिनों में कुछ लोगों से उसका हेल मेल हो जाता है। यही हेल मेल बढ़ते बढ़ते मित्रता के रूप में परिणत हो जाता है। इन्हीं मित्रों के चुनाव की उपयुक्तता पर उसके जीवन की सफलता निर्भर हो जाती है, क्योंकि संगत का गुप्त प्रभाव हमारे आचरण पर बड़ा भारी पड़ता है। हम लोग ऐसे समय में समाज में प्रवेश करके अपना कार्य्य आरंभ करते हैं जब कि हमारा चित्त कोमल और हर तरह का संस्कार पड़ने योग्य रहता है, हमारे भाव अपरिमार्जित और हमारी प्रवृत्ति अपरिपक्क रहती है। अपने मनोवेगों की शक्ति और अपनी प्रकृति की कोमलता का पता हमीं को नहीं रहता, हम लोग कच्ची मिट्टी की मूर्त्ति के समान रहते हैं जिसे जो जिस रूप में चाहे उस रूप में करे, चाहे राक्षस बनावे चाहे देवता। ऐसे लोगों का साथ करना हमारे लिये बुरा है जो हमसे अधिक दृढ़ संकल्प के हैं क्योंकि हमें

उनको हर एक बात बिना विरोध के मान लेनी पड़ती है, पर ऐसे लोगों का साथ करना और भी बुरा है जो हमारी ही बात को ऊपर रखते हैं क्योंकि हमारे ऊपर न तो कोई दाब और न कोई सहारा रह जाता है, दोनों अवस्थाओं में जिस बात का भय रहता है उसका पता युवा पुरुषों को प्रायः बहुत कम रहता है। यदि विवेक से काम लिया जाय तो यह भय नहीं रहता, पर युवा पुरुष प्रायः विवेक से कम काम लेते हैं। कैसे आश्चर्य्य की बात है कि लोग एक घोड़ा लेते हैं तो उसके गुण दोष को कितना परख कर लेते हैं पर किसी को मित्र बनाने में उसके पूर्व आचरण और प्रकृति आदि का कुछ भी विचार अनुसंधान नहीं करते, वे उसमें सब बातें अच्छी ही अच्छी मान कर उस पर अपना पूरा विश्वास जमा देते हैं, हँसमुख चेहरा, बात का रंग ढंग, थोड़ी चतुराई या साहस—ये ही दो चार बातें किसी में देख कर लोग चटपट उसे अपना बना लेते हैं। हम लोग यह नहीं सोचते कि मैत्री का उद्देश्य क्या है, अथवा जीवन के व्यवहार में उसका कुछ मूल्य भी है। यह बात हमें नहीं सूझती कि यह एक ऐसा साधन है जिससे आत्म-शिक्षा का कार्य्य बहुत सुगम हो जाता है। एक प्राचीन विद्वान् का वचन है कि विश्वासपात्र मित्र से बड़ी भारी रक्षा रहती है, जिसे ऐसा मित्र मिल जाय उसे समझना चाहिए कि ख़ज़ाना मिल गया। विश्वासपात्र मित्र जीवन की एक औषध है। हमें अपने मित्रों से यह आशा रखनी चाहिए कि वे उत्तम संकल्पों

में हमें दृढ़ करेंगे, तथा दोषों और त्रुटियों से हमें बचावेंगे; हमारे सत्य, पवित्रता और मर्य्यादा के प्रेम को पुष्ट करेंगे, जब हम कुमार्ग पर पैर रक्खेंगे तब वे हमें सचेत करेंगे, जब हम हतोत्साह होंगे तब हमें उत्साहित करेंगे—सारांश यह कि वे हमें उत्तमतापूर्वक जीवन निर्वाह करने में हर तरह से सहायता देंगे। सच्ची मित्रता में उत्तम से उत्तम वैद्य की सी निपुणता और परख होती है, अच्छी से अच्छी माता का सा धैर्य और कोमलता होती है। ऐसी ही मित्रता करने का प्रयत्न प्रत्येक युवा पुरुष को करना चाहिए।

छात्रावस्था में तो मित्रता की धुन सवार रहती है। मित्रता हृदय से उमड़ी पड़ती है। पीछे के जो स्नेह बंधन होते हैं उनमें न तो उतनी उमंग रहती है और न उतनी खिन्नता। उस मित्रता में जैसा मग्न करने वाला आनंद होता है तथा हृदय को वेधने वाली ईर्षा और खिन्नता होती है वह और कहां? कैसी मृदु-लता और कैसी अनुरक्ति होती है! कैसा अपार विश्वास होता है। हृदय के कैसे कैसे भीतरी भाव खुलते हैं! वर्त्तमान कैसा आनंदमय दिखाई पड़ता है और भविष्य कैसी कैसी सुंदर कल्पनाओं से पूर्ण रहता है! कैसा बिगाड़ होता है? और कैसी आर्द्रता के साथ मेल होता है! कैसी क्षोभ से भरी 'बातें' होती हैं और कैसी आवेगपूर्ण लिखा पढ़ी होती है! कितनी जल्दी बातें लगती हैं और कितनी जल्दी मानना मनाना होता है! 'सहपाठी की मित्रता' इस 'काव्य में

हृदय के कितने भारी उथल पथल का भाव भरा हुआ है! किंतु जिस प्रकार युवा पुरुष की मित्रता स्कूल के बालक की मित्रता से दृढ़, शांत और गंभीर होती है उसी प्रकार हमारी युवावस्था के मित्र बाल्यावस्था के मित्रों से कई बातों में भिन्न होते हैं। मैं समझता हूं कि मित्र चाहते हुए मित्र के आदर्श की कल्पना बहुत से लोग मन में करते होंगे पर इस कल्पित आदर्श से तो हमारा काम जीवन के झंझटों में चलता नहीं। सुंदर प्रतिमा, मनभावनी चाल, और स्वच्छंद प्रकृति ये ही दो चार बातें देखकर मित्रता की जाती है, पर जीवन संग्राम में साथ देनेवाले मित्रों में इनसे कुछ अधिक बातें चाहिएं। मित्र केवल उसे नहीं कहते जिसके गुणों की हम प्रशंसा करें पर जिससे हम स्नेह न कर सकें, जिससे अपने छोटे मोटे काम तो हम निकालते जाँय पर भीतर ही भीतर घृणा करते रहें। मित्र सच्चे पथप्रदर्शक के समान होना चाहिए जिस पर हम पूरा विश्वास कर सकें, भाई के समान होना चाहिए जिसे हम अपना प्रीतिपात्र बना सकें। हमारे और हमारे मित्र के बीच सच्ची सहानुभूति होनी चाहिए-ऐसी सहानुभूति जिससे दोनों मित्र एक दूसरे की बराबर खोज खबर लिया करें, ऐसी सहानुभूति जिससे एक के हानि लाभ को दूसरा अपना हानि लाभ समझे। मित्रता के लिये यह आवश्यक नहीं है कि दो मित्र एक ही प्रकार का कार्य्य करते हैं वा एक ही रुचि के हों। इसी प्रकार प्रकृति और आचरण

की समानता भी आवश्यक या वांछनीय नहीं है। दो भिन्न प्रकृति के मनुष्यों में बराबर प्रीति और मित्रता रही है। राम धीर और शांत प्रकृति के थे, लक्ष्मण उग्र और उद्धत स्वभाव के थे, पर दोनों भाइयों में अत्यंत प्रगाढ़ स्नेह था। उदार तथा उच्चाशय कर्ण और लोभी दुर्योधन के स्वभावों में कुछ विशेष समानता न थी पर उन दोनों की मित्रता खूब निभी। यह कोई बात नहीं है कि एक ही स्वभाव और रुचि के लोगों ही में मित्रता हो सकती है। समाज में विभिन्नता देख कर लोग एक दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं। जो गुण हम में नहीं है हम चाहते हैं कि कोई ऐसा मित्र मिले जिसमें वह गुण हो। चिंताशील मनुष्य प्रफुल्लचित्त मनुष्य का साथ ढूंढ़ता है निर्बल बली का धीर उत्साही का। उच्च आकांक्षा वाला चन्द्रगुप्त युक्ति और उपाय के लिये चाणक्य का मुंह ताकता था, नीति-विशारद अकबर मन बहलाने के लिये बीरबल की ओर देखता था।

मित्र का कर्त्तव्य इस प्रकार बतलाया गया है—"उच्च और महत्कार्यों में इस प्रकार सहायता देना, मन बढ़ाना और साहस दिलाना, कि तुम अपनी निज की सामर्थ्य से बाहर काम कर जाओ"। यह कर्त्तव्य उसी से पूरा होगा जो दृढ़ चित्त और सत्य संकल्प का हो। इससे हमें ऐसे ही मित्रों की खोज में रहना चाहिए जिनमें हमसे अधिक आत्मबल हो। हमें उनका पल्ला उसी तरह पकड़ना चाहिए जिस तरह सुग्रीव ने

राम का पल्ला पकड़ा था। मित्र हों तो प्रतिष्ठित और शुद्ध हृदय के हों, मृदुल और पुरुषार्थी हों, शिष्ट और सत्यनिष्ठ हों, जिसमें हम अपने को उनके भरोसे पर छोड़ सकें और यह विश्वास कर सकें कि उनसे किसी प्रकार का धोखा न होगा। मित्रता एक नई शक्ति की योजना है। वर्क ने कहा है कि आचरण-दृष्टांत ही मनुष्य जाति की पाठशाला है, जो कुछ वह उससे सीख सकता है वह और किसी से नहीं।

संसार के अनेक महान पुरुष मित्रों की बदौलत बड़े बड़े कार्य्य करने में समर्थ हुए हैं। मित्रों ने उनके हृदय के उच्च भावों को सहारा दिया है। मित्रों ही के दृष्टांतों को देख देख उन्होंने अपने हृदय को दृढ़ किया है। अहा! मित्रों ने कितने मनुष्यों के जीवन को साधु और श्रेष्ठ बनाया है उन्हें मूर्खता और कुमार्ग के गड्ढों से निकाल कर सात्त्विकता के पवित्र शिखर पर पहुंचाया है! मित्र उन्हें सुंदर मंत्रणा और सहारा देने के लिये सदा उद्यत रहते हैं जिनके सुख और सौभाग्य की चिंता वे निरंतर करते रहते हैं। ऐसे भी मित्र होते हैं जो विवेक को जागृत करना और कर्त्तव्य-बुद्धि को उत्तेजित करना जानते हैं। ऐसे भी मित्र होते हैं जो टूटे जी को जोड़ना और लड़खड़ाते पावों को ठहराना जानते हैं। बहुतेरे मित्र हैं जो ऐसे दृढ़ आशय और उद्देश्य की स्थापना करते हैं जिनसे कर्मक्षेत्र में आप भी श्रेष्ठ बनते हैं और दूसरों को भी श्रेष्ठ बनाते हैं। मित्रता जीवन और मरण के मार्ग में

सहारे के लिये है। यह सैर सपाटे और अच्छे दिनों के लिये भी है तथा संकट और विपत्ति के बुरे दिनों के लिये भी है। यह हँसी दिल्लगी के गुलछर्रों में भी साथ देती है और धर्म के मार्ग में भी। मित्रों को एक दूसरे के जीवन के कर्त्तव्यों को उन्नत करके उन्हें साहस, बुद्धि और एकता द्वारा चमकाना चाहिए। हमें अपने मित्र से कहना चाहिए– "*मित्र! अपना* हाथ बढ़ाओ। यह जीवन और मरण में हमारा सहारा होगा। तुम्हारे द्वारा मेरी भलाई होगी। पर यह नहीं कि सारा ऋण मेरे ही ऊपर रहे, तुम्हारा भी उपकार होगा, जो कुछ तुम करोगे उससे तुम्हारा भी भला होगा। सत्य शील, न्यायी और पराक्रमी बने रहो, क्योंकि यदि तुम चूकोगे तो मैं भी चूकूंगा। जहां जहां तुम जाओगे, मैं भी जाऊंगा। तुम्हारी बढ़ती होगी तो हमारी भी बढ़ती होगी। जीवन के संग्राम में वीरता के साथ लड़ो क्योंकि तुम्हारी ढाल मैं लिए हूं।'

जो बात ऊपर मित्रों के संबंध में कही गई वही जान पहचान वालों के संबंध में भी ठीक है। जो मनुष्य स्व-संस्कार में लगा हो उसे अपने मिलने जुलने वालों के आचरण पर भी दृष्टि रखनी चाहिए, उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि उनकी बुद्धि और उनका आचरण ठिकाने का है। साधारणतः हमें अपने ऊपर ऐसे प्रभावों को न पड़ने देना चाहिए जिनसे हमारी विवेचना की गति मंद हो या भले बुरे का विवेक क्षीण हो। जीवन का उद्देश्य क्या है? क्या वह भविष्य

के लिये आयोजन का स्थान नहीं है ? क्या वह तुम्हारे हाथ में सौंपा हुआ ऐसा पदार्थ नहीं है जिसका लेखा तुम्हें परमात्मा को और अपनी आत्मा को देना होगा ? सोचो तो कि दो चार दस जितने गुण तुम्हें दिए गए हैं उन्हें तुम्हें देने वाले को सौगुने पचास गुने करके लौटाना चाहिए अथवा ज्यों के त्यों बिना ब्याज वा वृद्धि के। यदि जीवन एक प्रहसन ही है जिस में तुम गा बजा कर और हँसी ठट्ठा करके समय काटो तब तो जो कुछ उसके महत्त्व के विषय में मैंने कहा है सब व्यर्थ ही है। पर जीवन में गंभीर बातें और विपत्ति के दृश्य भी हैं। मेरी समझ में तो महाराणा प्रताप की भांति संकट के दिन काटना वाजिद अली शाह की भांति भोग विलास करने से अच्छा है। मेरी समझ में शिवा जी के सवारों की तरह चने बांध कर चलना औरंगज़ेब के सवारों की तरह हुक्के और पानदान के साथ चलने से अच्छा है। मैं जीवन को न तो दुःखमय और न सुखमय बतलाना चाहता हूं बल्कि उसे एक ऐसा अवसर समझता हूं जो हमें कुछ कर्त्तव्यों के पालन के लिये दिया गया है, जो हमें परलोक के लिये कुछ कमाई करने के लिये दिया गया है। हमारे सामने ऐसे बहुत से लोगों के दृष्टांत हैं जिनके विचार भी महान थे कर्म भी महान थे। जैसा कि महात्मा डिमास्थिनीज़ ने एथेंसवासियों से कहा था उसी प्रकार हमें भी अपने मन में समझना चाहिए कि "यदि हमें अपने महान पूर्वपुरुषों की भांति कर्म करने का अवसर

न मिले तो हमें क्रम से अपने विचार उनकी भांति रखने चाहिएं और उनकी आत्मा की महानता का अनुकरण करना चाहिए" । अतः हमें सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हम कैसा साथ करते हैं। दुनिया तो जैसी हमारी संगत होगी वैसा हमें समझे ही गी पर हमें अपने कामों में भी संगत ही के अनुसार सहायता या बाधा पहुंचेगी। उसका चित्त अत्यंत दृढ़ समझना चाहिए जिसकी चित्तवृत्ति पर उन लोगों का कुछ भी प्रभाव न पड़े जिनका बराबर साथ रहता है । पर अच्छी तरह समझ रक्खो कि यह कभी हो नहीं सकता। चाहे तुम्हें ज्ञान न पड़े पर उसका प्रभाव तुम पर बराबर हर घड़ी पड़ता रहेगा और उसी के अनुसार तुम उन्नत या अवनत होगे, उत्साहित या हतोत्साह होगे । एक विद्वान् से पूछा गया कि 'जीवन में किस शिक्षा की सब से अधिक आवश्यकता है ? उसने उत्तर दिया " व्यर्थ की बातों को जान कर भी अनजान होना " । यदि हम जान पहचान करने में बुद्धिमानी से काम न लेंगे तो हमें बराबर अनजान बनना पड़ेगा।

महामति बेकन (Bacon) कहता है "समूह का नाम संगत नहीं है। जहां प्रेम नहीं है वहां लोगों की आकृतियां चित्रवत हैं और उनकी बातचीत झांझ की झनकार है"। पहचान करने में हमें कुछ स्वार्थ से काम लेना चाहिए। जान पहचान के लोग ऐसे हों जिनसे हम कुछ लाभ उठा सकते हों।

जो हमारे जीवन को उत्तम और आनंदमय करने में कुछ सहायता दे सकते हों, यद्यपि उतनी नहीं जितनी गहरे मित्र दे सकते हैं। मनुष्य का जीवन थोड़ा है उसमें खोने के लिये समय नहीं। यदि क, ख, और ग हमारे लिये कुछ नहीं कर सकते, न कोई बुद्धिमानी या विनोद की बातचीत कह सकते हैं, न कोई अच्छी बात बतला सकते हैं, न अपनी सहानुभूति द्वारा हमें ढाढ़स बँधा सकते हैं, न हमारे आनंद में सम्मिलित हो सकते हैं, न हमें कर्त्तव्य का ध्यान दिला सकते हैं, तो ईश्वर हमें उनसे दूर ही रक्खे। हमें अपने चारों ओर जड़ मूर्त्तियां सजानी नहीं है। आज कल जान पहचान बढ़ाना कोई बड़ी बात नहीं है। कोई भी युवा पुरुष ऐसे अनेक युवा पुरुषों को पा सकता है जो उसके साथ थियेटर देखने जांयगे, नाचरंग में जांयगे, सैर सपाटे में जांयगे, भोजन का निमंत्रण स्वीकार करेंगे। यदि ऐसे जान पहचान के लोगों से कुछ हानि न होगी तो लाभ भी न होगा। पर यदि हानि होगी तो बड़ी भारी होगी। सोचो तो तुम्हारा जीवन कितना नष्ट होगा यदि ये जान पहचान के लोग उन मनचले युवकों में से निकलें जिनकी संख्या दुर्भाग्यवश आज कल बहुत बढ़ रही है, यदि उन शोहदों में से निकलें जो अमीरों की बुराइयों और मूर्खताओं की नक़ल किया करते हैं, दिन रात बनाव सिंगार में रहा करते हैं, कुलटा स्त्रियों के फ़ोटो मोल लिया करते हैं, मुहफ़िलों में

'आहो' हा, 'वाह' 'वाह' किया करते हैं, गलियों में ठट्ठा मारते और सिगरेट का धुआं उड़ाते चलते हैं। ऐसे नवयुवकों से बढ़कर शून्य, नि.सार और शोचनीय जीवन और किसी का है। वे अच्छी बातों के सच्चे आनद से कोसों दूर हैं। उनके लिये न तो संसार में सुदर और मनोहर उक्तिवाले कवि हुए हैं और न सुंदर आचरणवाले महात्मा हुए हैं। उनके लिये न तो बड़े बड़े वीर अद्भुत कर्म्म कर गए हैं और न बड़े बड़े ग्रंथकार ऐसे विचार छोड गए हैं जिनसे मनुष्य-जाति के हृदय में सात्त्विकता की उमगें उठती हैं। उनके लिये फूल पत्तियों में कोई चमत्कार या मनोहरता नहीं, तारांकित गगन-मंडल में कोई सादृश्य नहीं, झरनों के कलकल में मधुर संगीत नहीं, अनत सागर तरगों में गभीर रहस्यों का आभास नहीं, उनके भाग्य में सच्चे प्रयत्न और पुरुषार्थ का आनंद नहीं उनके भाग्य में सच्ची प्रीति का सुख और कोमल हृदय की शांति नहीं। जिनकी आत्मा अपने इंद्रिय विषयों में ही लिप्त है, जिनका हृदय नीच आशयों और कुत्सित विचारों से कलुषित है ऐसे नाशोन्मुख प्राणियों को दिन दिन अधकार में पतित होते देख कौन ऐसा होगा जो तरस न खायगा? जिसने सत्संस्कार का विचार अपने मन में ठान लिया हो उसे ऐसे प्राणियों का साथ न करना चाहिए। मक्दूनिया का बादशाह डेमेट्रियस कभी कभी राज्य का सब काम काज छोड़ अपने ही मेल के दस पांच साथियों को लेकर विषय वासना में लिप्त रहा करता था। एक

वार बीमारी का बहाना करके इसी प्रकार वह अपने दिन काट रहा था। इसी बीच उसका पिता उससे मिलने के लिये गया और उसने एक हँसमुख जवान को कोठरी से बाहर निकलते देखा। जब पिता कोठरी के भीतर पहुंचा तब डेमेट्रियस ने कहा "ज्वर ने मुझे अभी छोड़ा है"। पिता ने कहा "हां! ठीक है, वह दरवाजे पर मुझे मिला था"।

कुसंग का ज्वर सब से भयानक होता है। यह न केवल नीति और सद्वृत्ति का नाश करता है बल्कि बुद्धि का भी क्षय करता है। किसी युवा पुरुष की संगत यदि बुरी होगी तो वह उसके पैर में बँधी चक्की के समान होगी जो उसे दिन दिन अवनति के गड्ढे में गिराती जायगी और यदि अच्छी होगी तो सहारा देनेवाली बाहु के समान होगी जो उसे निरंतर उन्नति की ओर उठाती जायगी।

इंगलैंड के एक विद्वान को युवावस्था में राजा के दरबारियों में जगह नहीं मिली इस पर ज़िंदगी भर वह अपने भाग्य को सराहता रहा। बहुत से लोग तो इसे अपना बड़ा भारी दुर्भाग्य समझते पर वह अच्छी तरह जानता था कि वहां वह बुरे लोगों की संगत में पड़ता जो उसकी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक होते। बहुत से लोग ऐसे होते हैं जिनके घड़ी भर के साथ से भी बुद्धि भ्रष्ट होती है, क्योंकि उतने ही बीच में ऐसी ऐसी बातें कही जाती हैं जो कानों में न पड़नी चाहिएं, चित्त पर ऐसे ऐसे प्रभाव पड़ते हैं जिनसे उसकी

पवित्रता का नाश होता है। बुराई अटल भाव धारण करके बैठती है। बुरी बातें हमारी धारणा में बहुत दिनों तक टिकती हैं। इस बात को प्रायः सब लोग जानते हैं कि भद्दी दिल्लगी या फूहड़ गीत जितनी जल्दी ध्यान पर चढ़ते हैं उतनी जल्दी कोई गंभीर या अच्छी बात नहीं। एक बार एक मित्र ने मुझ से कहा कि उसने लड़कपन में कहीं से एक बुरी कहावत सुन पाई थी जिसका ध्यान वह लाख चेष्टा करता है कि न आवे पर बार बार आता है। जिन भावनाओं को हम दूर रखना चाहते हैं, जिन बातों को हम याद नहीं करना चाहते वे बार बार हृदय में उठती हैं और बेधती हैं। अतः तुम पूरी चौकसी रक्खो, ऐसे लोगों को कभी साथी न बनाओ जो अश्लील, अपवित्र और फूहड़ बातों से तुम्हें हँसाना चाहें। सावधान रहो। ऐसा न हो कि पहले पहल तुम इसे एक बहुत सामान्य बात समझो और सोचो कि एक बार ऐसा हुआ फिर ऐसा न होगा अथवा तुम्हारे चरित्रबल का ऐसा प्रभाव पड़ेगा कि ऐसी बातें बकने वाले आगे चल कर आप सुधर जायंगे। नहीं, ऐसा नहीं होगा। जब एक बार मनुष्य अपना पैर कीचड़ में डाल देता है तब फिर यह नहीं देखता कि वह कहां कैसी जगह पैर रखता है। धीरे धीरे उन बुरी बातों से अभ्यस्त होते होते तुम्हारी घृणा कम हो जायगी, पीछे तुम्हें उनसे चिढ़ न मालूम होगी, क्योंकि तुम यह सोचने लगोगे कि चिढ़ने की बात ही क्या है। तुम्हारा विवेक कुंठित हो जायगा और तुम्हें

भले बुरे की पहचान न रह जायगी। अंत में होते होते तुम भी बुराई के भक्त बन जाओगे। अतः हृदय को उज्वल और नेष्कलंक रखने का सब से अच्छा उपाय यही है कि बुरी संगत की छूत से बचो। यह पुरानी कहावत है कि—

काजल की कोठरी में कैसो हू सयानो जाय
एक लीक काजर की लागिहै पै लागिहै।

जो कुछ ऊपर कहा गया उससे यह न समझना चाहिए के मैं युवा पुरुषों को समाज में प्रवेश करने से रोकता हूं। नहीं, कदापि नहीं। अच्छा समाज यदि मिले तो उसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है और उससे आत्मसंस्कार के कार्य्य में बड़ी सहायता मिलती है। प्रायः देखने में आता है कि गाँवों से जो लोग नगरों में जीविका आदि के लिये आते हैं उनका जी बहुत दिनों तक संगी साथी न रहने से कितना घबड़ाता है और कभी कभी उन्हें ऐसे लोगों का साथ कर लेना पड़ता है जो उनकी रुचि के अनुकूल नहीं होते। ऐसे लोगों के लिये अच्छा तो यह होता है कि वे किसी साहित्य-समाज में प्रवेश करें। पर वहां भी उन्हें उन सब बातों की जानकारी नहीं प्राप्त हो सकती जो स्वशिक्षा के लिये आवश्यक है। समाज में प्रवेश करने से हमें अपना यथार्थ मूल्य विदित होता है। हम देखते हैं कि हम उतने चतुर नहीं हैं जितने एक कोने में बैठकर कोई पुस्तक आदि हाथ में लेकर अपने को समझा करते थे। भिन्न भिन्न लोगों में भिन्न भिन्न प्रकार के गुण होते हैं, यदि कोई एक बात

में निपुण है तो दूसरा दूसरी में। समाज में प्रवेश करके देखते हैं कि इस बात की कितनी आवश्यकता है कि लोग हमारी भूलों को क्षमा करें अतः हम दूसरों की भूल चूक को क्षमा करना सीखते हैं। हम कई ठोकरें खाकर नम्रता और अधीनता का पाठ सीखते हैं। इनके अतिरिक्त और भी बड़े बड़े लाभ होते हैं। समाज में सम्मिलित होने से हमारी समझ बढ़ती है, हमारी विवेक-बुद्धि तीव्र होती है, वस्तुओं और व्यक्तियों के संबंध में हमारी धारणा विस्तृत होती है, हमारी सहानुभूति गहरी होती है, हमें अपनी शक्तियों के उपयोग का अभ्यास होता है। समाज एक परेड है जहां हम चढ़ाई करना सीखते हैं, अपने साथियों के साथ साथ मिल कर बढ़ना और आज्ञा पालन करना सीखते हैं, इनसे भी बढ़कर और और बातें हम सीखते हैं। हम दूसरों का ध्यान रखना, उनके लिये तुच्छ स्वार्थत्याग करना सीखते हैं, सद्गुणों का आदर करना और सुंदर चाल ढाल की प्रशंसा करना सीखते हैं। सुसंस्काराभिलाषी युवक को उस चाल व्यवहार की अवहेलना न करनी चाहिए जो भले आदमियों के समाज में आवश्यक समझी जाती है। बड़ों के प्रति सम्मान और सरलता का व्यवहार, बराबरवालों से प्रसन्नता का व्यवहार, और छोटों के प्रति कोमलता का व्यवहार भलेमानुसों के लक्षण हैं। सुडौल और सुंदर वस्तु को देख हम सब लोग प्रसन्न होते हैं, सुंदर चाल ढाल को देख हम सब लोग आनंदित होते हैं, मीठे वचनों को सुन कर हम सब

लोग संतुष्ट होते हैं। ये सब बातें हमें मनोनीत होती हैं, शिक्षा द्वारा प्रतिष्ठित आदर्श के अनुकूल होती हैं। किसी भले आदमी को यह कहते सुन कर कि फटी पुरानी और मैली पुस्तक हाथ में लेकर पढ़ते नहीं बनता हमें हँसना न चाहिए, सोचो तो कि तुम्हारी मंडली में कोई उजड्ड गँवार आकर फूहड़ बातें बकने लगे तो तुम्हें कितना बुरा लगेगा।

'भला मानुस' किसे कहते हैं?' यह बात पूछी भी बहुत जाती है और बतलाई भी बहुत जाती है। मैं इसके विषय में पुस्तक के आरंभ ही में थोड़ा बहुत कह चुका हूं। यहां पर मुझे केवल यही कहना है कि यदि शिक्षा से तीन चौथाई भलमनसाहत आती है तो सत्संग से कम से कम चौथाई अवश्य आती है। चतुराई, बुद्धिमानी, हृदय की कोमलता, आदि सब कुछ होने पर भी विना समाज-संसर्ग के व्यवहार-कुशलता नहीं आती। हीरा जब तक खराद पर नहीं चढ़ता उसकी चमक सबको नहीं दिखाई देती। प्रसिद्ध निबंध लेखक एमर्सन कहता है "भलमनसाहत शब्द का प्रयोग व्यक्तिगत गुणों के लिये होता है। यद्यपि इस शब्द के अभिप्राय के अंतर्गत बहुत सी अनोखी और कल्पित बातें जोड़ी जाती हैं पर इस विषय में मनुष्य जाति का एक सामान्य लक्ष्य है। वह वस्तु जिससे प्रत्येक देश के शक्तिमान पुरुष परस्पर मिलते हैं, जिससे एक दूसरे का साथ पसंद करते हैं और जो ऐसी निर्दिष्ट है कि इसका अभाव तुरंत खटक जाता है, कोई ऐसी

वस्तु नहीं है जो किसी किसी समय कहीं कहीं उत्पन्न हो जाया करती हो, बल्कि वह सारे मनुष्यों के गुणों और शक्तियों का एक औसत परिणाम है। यह उस वर्ग के लोगों की भावनाओं और गुणों से उत्पन्न एक व्यापक आदर्श है जिनमें सब से अधिक शक्ति है, जो वर्त्तमान् संसार के अगुआ हैं। यद्यपि इस आदर्श में भावनाओं की पूर्ण उच्चता का समावेश नहीं होता पर इसमें उतनी उत्तमता रहती है जितनी का निर्वाह सारे समाज में हो सकता है। भलमनसाहत एक ऐसा मिश्रित द्रव्य है जिसमें सदाचार, चतुराई, सुंदरता, धन और अधिकार का योग रहता है।" एमर्सन की इस परिभाषा में मुझे बहुत अत्युक्ति दिखाई पड़ती है। भलमनसाहत का मूल धन, अधिकार, चतुराई, सुंदरता, इत्यादि नहीं है बल्कि सहानुभूति है। भलमनसाहत वह शक्ति है जिससे मनुष्य अपने को उन लोगों के इस प्रकार अनुकूल करता है जिनसे वह मिलता है कि उन्हें अपनी छोटाई का ध्यान नहीं होने पाता, उन्हें कोई बात खटकने नहीं पाती और उनमें आत्ममर्य्यादा का भाव पुष्ट होता है। *दिल्ली के बादशाह नासिरुद्दीन महमूद* में इस प्रकार की भलमनसाहत थी। एक दिन वह अपनी बनाई एक पुस्तक अपने एक सरदार को दिखा रहा था। सरदार ने उस पुस्तक में कई अशुद्धियां बतलाईं। सरदार ने जैसा कहा नासिरुद्दीन ने वैसा ही बना दिया। पर जब वह सरदार चला गया, तब फिर नासिरुद्दीन ने काट कर वही बना दिया जो उसने पहले लिखा था। जब लोगों ने इसका

कारण पूछा तब बादशाह ने कहा " भाई ! मैं जानता था कि जो मैंने लिखा है वह ठीक है पर यदि मैं न काटता तो सरदार का जी टूट जाता। इस लिये मैंने उसके सामने काट दिया था, अब उसे फिर ठीक कर लिया "। पोप क्लिमेंट जब गद्दी पर बैठा तब भिन्न भिन्न देशों के राजदूत बधाई के लिये आए। जब राजदूतों ने झुक झुक कर सलाम किया तब पोप ने भी उन्हें बड़े आदर के साथ सलाम किया। धर्माचार्य्य ने कहा " महाराज ! सलाम का जवाब देना मर्य्यादा के विरुद्ध है। पोप ने कहा " मैं अभी इतने दिनों तक पोप नहीं रहा हूं कि भलमनसाहत भूल जाऊँ "। एक दीन और अनाथ स्त्री रोग से पीड़ित थी मैं ने उसके लिये एक डाक्टर का प्रबंध कर दिया। जब वह डाक्टर के यहां से लौटी तब उसकी निपुणता आदि के विषय में कुछ न कह कर उसकी शिष्टता और भलमनसाहत का बखान करने लगी। वह बार बार यही कहती, " अहा ! वह कैसा भला आदमी है ! उसने मुझ पर बड़ी दया दिखाई और वह मेरे दुःख से सचमुच दुखी हुआ।"

यदि सहानुभूति ही भलेमानुस का सच्चा लक्षण है तो थैकरे का यह कहना बहुत ठीक है कि " भले मानुस विरले ही मिलते हैं "। आगे चल कर यह धुरंधर उपन्यास-कार जो स्वयं भलमनसाहत का मूर्त्तिमान् उदाहरण था, इस विषय में इस प्रकार कहता है—"ऐसे कितने आदमियों को हम बता सकते हैं जिनके आशय उदार हों, जिनका सत्य अटल हो—

अदल ही नहीं बढ़ा चढ़ा हो, जो क्षुद्रता के अभाव के कारण सीधे सादे हों, जो संसार में छोटे बड़े सब के साथ समान सहानुभूति रख सकते हों ? हमें ऐसे सैकड़ों मिलेंगे जिनके कपड़े लत्ते अच्छे हों, ऐसे बीसों मिलेंगे जो 'अदब क़ायदा जानते हों, ऐसे भी अनेक मिलेंगे जिन्होंने फ़ैशन में खूब बढ़ कर बाज़ी मारी हो, पर भलेमानुस कितने मिलेंगे ?" कपड़े लत्ते पहनने में एकता होना ही काफ़ी नहीं, अदब क़ायदों को घोख रखना ही धर्म नहीं, लटक के साथ धड़ाधड़ बात चीत करना ही सब कुछ नहीं । तुम्हें इस धर्म-वाक्य को सदा स्मरण रखना चाहिए और उस पर चलना चाहिए कि तुम लोगों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा कि तुम चाहते हो कि लोग तुम्हारे साथ करें । इसी वाक्य में सच्चो भलमनसाहत का सार भरा हुआ है । उदार, बुद्धिमान्, पुरुषार्थी और सत्यपरायण होना, वृद्ध लोगों के प्रति सम्मान और युवा पुरुषों के प्रति समानता का व्यवहार करना, तथा सब किसी के साथ ऐसा बर्त्ताव करना जिसमें आत्मोत्सर्ग का भाव पाया जाय ये ही भलेमानुसों के लक्षण हैं ।

इसमें कोई संदेह नहीं कि संग साथ का अभाव, और संगी साथी चुनने में चौकसी न रखना ये दोनों बातें बुरी हैं । बराबर देखने में आता है कि सैकड़ों युवक अपने घरों के शांतिमय और शुद्ध जीवन को छोड़ जहां वे अपने माता-पिता को देख देख कर आनंद से दिन बिताते थे, गावों से बड़े बड़े

नगरों में बड़े बड़े प्रलोभनों और बुराइयों के बीच जाते हैं जहां कोई हाथ पकड़ कर सन्मार्ग पर ले जाने वाला या कुमार्ग से बचाने वाला नहीं मिलता। मैं समझता हूं कि इस स्थान-परिवर्त्तन में जिन जिन बातों की आशंका होती है उनका विचार नहीं किया जाता। युवकों के हृदय में स्वभावतः साहस तथा नई नई वस्तुओं के लिये उत्कंठा होती है। उन्हें अपने ऊपर इतना विश्वास होता है कि वे कभी कभी प्रलोभनों के बीच केवल यह दिखलाने के लिये जा पड़ते हैं कि वे उनके चक्कर में नहीं फँस सकते। नगरों के हुल्लड़ और कलकल में यदि कहीं से कोई सचेत करने वाली ध्वनि आती भी है तो वह 'नक्कारखाने में तूती की आवाज़' की तरह होती है। युवा पुरुष अपने मार्ग के किनारे के लुभाने वाले फलों और फूलों ही को देखते हैं, उनके बीच जो विषधर सर्प छिपे रहते हैं उन्हें नहीं देखते। यहां उन सब बातों के अलग अलग गिनाने की आवश्यकता नहीं है जिनके बुरे अनुभव इतने अधिक होते हैं कि उन पर ध्यान ही नहीं जाता। पर इस अवसर पर मैं इस सिद्धांत का विरोध अवश्य करूंगा कि युवा पुरुषों को अपनी राह आप निकालनी चाहिए। यह सिद्धांत बहुधा लोगों के मुंह पर रहता है। पर यदि इसके अनुसार युवा पुरुष अपनी राह आप निकालेंगे तो वे उसके कांटों से कदापि नहीं बच सकते। मेरी समझ में तो युवा पुरुषों को अपनी राह निकालने का भार अपने ही ऊपर न रखना चाहिए। मैं

उन लोगों की शिक्षा का बड़ा भारी विरोधी हूं जो कहते हैं कि युवा पुरुषों को संसार में सब प्रकार का अनुभव प्राप्त करना चाहिए, जिनका उपदेश है कि मनुष्य को यह देखने के लिये कि भाड़ गरम है या नहीं भाड़ में कूद पड़ना चाहिए। ऐसी शिक्षाओं से बहुत से होनहार युवकों का सत्यानाश हुआ है। मैं नहीं समझता कि धार्मिक पिता कैसे अपने पुत्रों को इस प्रकार संसार का अनुभव प्राप्त करने देते हैं। इस प्रकार का अनुभव प्राप्त करने का अर्थ क्या है ? यही न कि धार्मिक होने का प्रयत्न करने के स्थान पर वे निषिद्ध वस्तुओं को ग्रहण करें, अपने कोमल हृदयों को विषय वासनाओं से कलुषित करें। यदि वे संसार की बुरी बातों का अनुभव प्राप्त करेंगे तो वे धीरे धीरे अभ्यस्त हो जांयगे और फिर उन्हें उन बुरी बातों से घृणा न रह जायगी। यदि वे संसार का अनुभव प्राप्त करेंगे तो उस शांतिमय सुमार्ग पर चलना भूल जांयगे जिस पर वे पहले चलते थे। यदि वे संसार की बुरी बातों का अनुभव प्राप्त कर लेंगे तो उनकी दृष्टि स्तंभित और चकित हो जायगी और वे भले बुरे की पहचान न कर सकेंगे। जब किसी युवा पुरुष के संबंध में यह कहा जाय कि उसने संसार में सब तरह का अनुभव प्राप्त किया तो यह समझना चाहिए कि वह बुराइयों से अभ्यस्त हो गया और उसने अपनी समस्त आशाओं पर पानी फेर दिया।

जो शिक्षा इस लिये कुप्रवृत्ति का विष पान करने का अनुरोध करती है जिसमें उसका प्रभाव अभ्यास द्वारा नष्ट हो जाय क्या वह उत्तम शिक्षा है और क्या उससे पुरुषार्थ और साहस आ सकता है? इतिहास ऐसा नहीं कहता। सब लोग मानते हैं कि अकबर कैसा पुरुषार्थी और धीर था। पर इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि उस धीरता और पुरुषार्थ को प्राप्त करने के लिये उसे संसार की उन बुरी बातों का अनुभव प्राप्त करना पड़ा था जिनका ऊपर उल्लेख हुआ है। काबुल में अपने चचा के यहां अपनी बल्यावस्था का बहुत सा समय बिताकर वह भारतवर्ष में आया और युवावस्था के आरंभ होने के पहले ही उसने अपना राजकाज सँभाला। महाकवि तुलसीदास जी बहुत दिनों तक, गृहस्थ धर्मानुसार अपने परिवार में अनुरक्त रहे। इसके उपरांत उसी शुद्ध अनुराग को उन्होंने परमात्मा की ओर लगाया और अपनी कविता द्वारा भक्तिरस का वह श्रोत बहाया कि उसमें सारा उत्तरीय भारत मग्न हो गया। इसी प्रकार महाराणा प्रताप, नाना फड़नवीस, सर टी० माधव राव, भट्टो जी दीक्षित, ईश्वर चंद्र विद्यासागर, आदि बड़े बड़े वीर, राजनीतिज्ञ और पंडित हो गए हैं जिन्हें संसार की बुरी बातों के अनुभव की कोई आवश्यकता नहीं पड़ी। जो सोता दल-दल और खरपतवार में फूटता है वह तलैया के रूप में स्थिर रह जाता है अतः यह न समझना चाहिए कि जो युवक सब

प्रकार के रंग में रह कर संसार का अनुभव प्राप्त करता है यह आगे चल कर पुरुषार्थ और साहस के कार्य्य कर सकता है।

जब हम डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र के जीवन की ओर ध्यान देते हैं तब देखते हैं कि उनका युवाकाल 'संसार का अनुभव' प्राप्त करने में नहीं बल्कि धैर्यपूर्वक अध्ययन में बीता। उन्होंने अपना समय एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय के उत्तम उत्तम ग्रंथों के देखने में और विद्वानों के व्याख्यान सुनने में लगाया। लोग कहेंगे कि वे एक ग़रीब आदमी थे इससे संसार के प्रलोभनों से बचे रहे, उनकी परीक्षा नहीं हुई इससे वे पतित नहीं हुए। पर सर टी० माधवराव, रमेशचंद्र दत्त आदि जिन्होंने राज्य प्रबंध और विद्वत्ता में इतना नाम कमाया, समृद्ध कुलों में उत्पन्न हुए थे पर उन्हें वारांगना द्वार प्रवेश की प्रणाली का अनुसरण नहीं करना पड़ा था। मनुष्य का जीवन क्रम क्रम से उच्च होता है। जिसकी युवावस्था शुद्धतापूर्वक व्यतीत होती है उसी का जीवन आगे चल कर उच्च होता है। जिसकी युवावस्था विषय-सेवन में नष्ट हुई है उसका आगम अँधेरा रहता है, उसका जीवन मेघाच्छन्न रहता है—विपत्ति और निराशा में पड़ कर पछताने के सिवाय उसे कुछ हाथ नहीं आता।

युवा पुरुषों को इस प्रकार के बुरे अनुभवों से बचाने के लिये सब से सीधा और सुगम उपाय सत्संग है। अच्छे

आदमियों के समाज में उठने बैठने से, जहां परस्पर प्रेम और शांति का आनंद रहता है, बड़ी भारी रक्षा रहती है। यह निश्चय समझना चाहिए कि ऐसे बहुत कम मनुष्य मिलेंगे जो पहले पहल प्रसन्नता के साथ बुराइयों में फँसते हों, तथा संसार की बुराइयों का अनुभव प्राप्त करते हुए जो कुछ हिचकते न हों और जिनके जी में कुछ खटका न होता हो। मुझे पूरा विश्वास है कि अधिकांश युवा पुरुष जब पहले पहल कुमार्ग पर पैर रखते हैं तब यदि संसार में कोई उनका हाथ पकड़ने वाला हो तो वे उससे हट सकते हैं। ससार में सब प्रकार के रंग में रहने का उपदेश तो बहुत लोग किया करते हैं और बहुत से लोग विषय मद में मस्त भी होते हैं, पर अपनी इस मौज से आगे चलकर वे ऊब जाते हैं और सौ में निन्नानवे मनुष्य इस मौज की लीक ग्लानि और घृणा के साथ पीटते चले जाते हैं, उन्हें उसमें कोई आनंद नहीं रह जाता, और अंत में उनकी आत्मा इतनी जड़ हो जाती है कि उसमें सत्य और सौंदर्य्य का कुछ भी अनुभव नहीं रह जाता। पर इस पतित दशा में पड़ने के पहले मनुष्य अच्छी बातों के लिये छटपटाता अवश्य है, और उसका यह छटपटाना सफल हो सकता है यदि वह इस संसार के कलुषित अँधेरे मार्गों से निकल कर किसी अच्छे परिवार या अच्छे समाज में पड़ जाय।

हमारे बड़े नगरों के युवक साधारणतः दो भागों में बांटे जा सकते हैं—एक वे जिन्होंने लड़कपन में कुछ धर्म संबंधी शिक्षा पाई, दूसरे वे जिन्होंने संसार के व्यवहारों में प्रवेश करने के पहले इस प्रकार की तैयारी नहीं की है। पहले प्रकार के लोगों के लिये तो कथा वार्ता, धर्मोपदेश आदि बहुत से साधन मिल जाते हैं जिनसे उनके चित्त पर घर ही का सा संस्कार बना रहता है। उनके लिये किसी नए यंत्र की आवश्यकता नहीं होती। जो यंत्र उनके पास रहता है उसी के स्वच्छंद उपयोग की आवश्यकता होती है। धर्म्मोपदेशकों को युवा पुरुषों को बहुत खोज खबर रखनी चाहिए, उन्हें कुमार्ग से बचाने का उद्योग करना चाहिए, उनकी सहायता के लिये प्रत्येक समय उद्यत रहना चाहिए। माता पिता को भी चाहिए कि युवकों को घर से बाहर किसी अन्य स्थान पर भेजते समय ऐसा प्रबंध करें कि उनके चित्त का संस्कार शुद्ध रहे। हमारे युवा पुरुष चाहे जिस नगर में जांय उन्हें धर्म्मचर्चा सुनने का अवसर मिल सकता है, धार्मिक सज्जनों की मंडली मिल सकती है, क्योंकि भारतवर्ष के ऐसा धार्मिक देश दूसरा नहीं।

अब रह गए दूसरे वर्ग के लोग जिन्होंने परिवार में सच्चा सुख नहीं प्राप्त किया है, जो किसी कारण वश धार्मिक संस्कार से वंचित रहे हैं। ऐसों के लिये तो कोई उपाय बताना कठिन है। धर्मसंस्कार का प्रयत्न यदि हृदय से

करें तो ऐसे युवा पुरुष दुष्ट प्रलोभनों से बच सकते हैं पर उनके लिये सब से अच्छा उपाय यही है कि वे सत्संग करें। सत्संग का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। इनमें से बहुत से, लोग तो समाजों और साहित्य संस्थाओं में सम्मिलित हो कर अपने समय का सदुपयोग कर सकते हैं और बुराइयों में पड़ने से बचे रह सकते हैं। पर बहुत से ऐसे निकलेंगे जिनकी सभा समाजों की ओर प्रवृत्ति नहीं होती, जिन्हें धर्म्मोपदेश अच्छे नहीं लगते, जो अधिक चहल पहल और मज़ेदारी की बातें चाहते हैं। बहुत से युवा पुरुष जो गलियों में टेढ़ी टोपी देकर निकलते हैं, जो अश्लील ठुमरी ठप्पा गाते चलते हैं, जो दिन रात शतरंज गंजीफ़ा खेलते रहते हैं, जो दुनिया में सब तरह के मज़े उठाने का दम भरते हैं, जो मेलों तमाशों में खूब बन ठन कर निकलते हैं, जो मुहफ़िलों में बिना बुलाये पहुंचते हैं, उनके लिये क्या किया जा सकता है? वे समाज के कोढ़ हैं, वे उसी प्रकार भयंकर हैं जिस प्रकार चोर और डाकू, जिनके पीछे पुलिस तैनात रहती है। वे समाज में बड़े बड़े अनर्थों का सूत्रपात करते हैं।

अब मैं आत्मसंस्कार में रत युवा पुरुषों के काम काज की ओर आता हूं। उन्हें जीविका के लिये कुछ न कुछ काम करना पड़ता है और वे उसे अच्छी तरह करते हैं। किसी कार्य्य में चाहे वह हाथ का हो चाहे मस्तिष्क का सफलता प्राप्त करने के लिये सब से पहली बात यह है कि वह अच्छी तरह किया जाय।

यह हो सकता है कि यह कार्य्य हमारी रुचि के अनुकूल न हो पर उस दशा में उसे करके हम अपने ऊपर दूना प्रभुत्व प्राप्त करेंगे और जिस हिसाब से उसे करने में हमें कठिनाई होगी उतना ही अच्छा उसका हमें फल मिलेगा। तब तक प्रयत्न पर प्रयत्न करते रहने से जब तक कि कार्य्य सिद्ध न हो हममें दृढ़ता आवेगी और हमारे उद्देश्य पुष्ट होंगे। नीति की दृष्टि से यदि देखा जाय तो बात बहुत सीधी है। जिसका हम काम करते हैं उससे एक प्रकार की प्रतिज्ञा करते हैं और हमारी मर्य्यादा इसी में है कि हम उसे अच्छी तरह पूर्ण करें। मुझे यह देख कर बड़ा दुःख और आश्चर्य होता है कि बहुतेरे युवा पुरुष इस विषय में बड़ी अवहेलना करते हैं और अपने काम को मन लगा कर नहीं करते बल्कि उसे बड़ी ढिलाई के साथ करते हैं। इससे काम करने वाले का जो नुक़सान होता है वह तो होता ही है उनकी भी बड़ी भारी हानि होती है क्योंकि कर्त्तव्य की प्रत्येक त्रुटि से भले बुरे का विवेक क्षीण होता है और न्याय बुद्धि कुंठित होती है। यह आत्मसंस्कार का एक अंग है कि जिस कार्य्य को करना उसे अच्छी तरह करना।

राजा हरिश्चंद्र ही की कथा की ओर ध्यान दो। जिस समय वे अयोध्या से चल कर काशी आए उन्होंने एक डोम की सेवा स्वीकार की। डोम ने उन्हें मरघट की रखवाली करने का काम सुपुर्द किया। सोचने की बात है कि क्या यह काम उनकी रुचि के अनुकूल रहा होगा? पर उन्होंने इस काम को

अपने ऊपर लेकर उसे अच्छी तरह पूरा किया, उसमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं की। जैसा कि सत्य हरिश्चंद्र नाटक में दिखलाया गया है वे अंधेरी रात में भीगते हुए बड़ी तत्परता के साथ श्मशान में फेरा लगाते थे और जो कोई मुर्दा लेकर आता था उससे डोम का कर वसूल करते थे। वे अपने कर्त्तव्य पर बराबर दृढ़ रहे, यहां तक कि जब स्वयं उनकी स्त्री उन्हीं के पुत्र का शव लेकर आई तब भी, यह जानते हुए भी कि उसके पास फूटी कौड़ी नहीं है, उन्होंने कर्त्तव्यानुसार श्मशान का कर मांगा और वे आधा कफन फड़वाने पर उद्यत हुए। जब पांडवों ने अज्ञात वास के समय राजा विराट के यहां नौकरी की थी तब सब भाइयों ने किस प्रकार अपने अपने काम में तत्पर रह कर अपने स्वामी का हित साधन किया। दक्षिण में बहमनी राजवंश का संस्थापक हसन गाँगू एक ब्राह्मण का सेवक था, उसके परिश्रम और उसकी तत्परता को देख ब्राह्मण ने भविष्यद्वाणी की कि तू एक दिन बादशाह होगा। विलायत में जार्ज मूर नामक एक प्रसिद्ध पुरुष हुआ है। वह पहले पहल दिहात से चलकर लंदन के एक बज़ाज़ के यहां नौकर हुआ। यद्यपि वह काम उसकी तीक्ष्ण बुद्धि के अनुकूल नहीं था पर वह अपने काम में बराबर मुस्तैद रहता था और अपने स्वामी को संतुष्ट रखता था। उसने जब अपने को अपने साथियों से मिलाया तब उसे जान पड़ा कि दिहात से आने के कारण वह शिक्षा में बहुत पीछे है। अतः उसने यह नियम

किया कि दिन भर तो परिश्रम के साथ दूकान का काम करता और रात को स्कूल में जाकर शिक्षा प्राप्त करता। धीरे धीरे डेढ़ वर्ष में उसने बहुत सी जानकारी प्राप्त कर ली और वह अपने साथियों की बराबरी करने योग्य हो गया। इस बात की ओर लक्ष्य करके वह कहता है—"किसी को भाग्य पर भरोसा न करना चाहिए। यह निश्चय समझना चाहिए कि गुण ही भाग्य है। वही युवा पुरुष संसार में बढ़ सकता है जो जानकारी रखता है और जो अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये पूरा प्रयत्न करता है"। बज़ाज़ की नौकरी छोड़ कर वह एक गोटे पट्टे वाले का एजेंट हुआ और नगरों में घूम घूम कर माल की बिक्री का उद्योग करने लगा। उसने इतने लाग और परिश्रम से काम किया कि थोड़े ही दिनों में उस कारखाने का काम दूना हो गया जिसमें वह नौकर था। उसकी यह कार्य्यदक्षता और तत्परता को देख एक दूसरी गोटे की दूकान ने उसे हिस्सेदार बनाया और वह स्वतंत्र रूप से व्यवसाय करने लगा। वह दिन रात में १६ घंटे काम करता। धीरे धीरे उसने कई नगरों में दूकानें खोलीं और उसका काम इतना चमका कि वह देखते ही देखते बड़ा आदमी हो गया।

इस बात को अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि संसार में जितने प्रतापी और महान् पुरुष हो गए हैं वे सब-खूब काम करने वाले थे। नेपोलियन की लड़ाइयों में यह विशेषता थी कि उसके सामने शत्रु की सारी सेना तितर बितर

हो जाती थी। वह इस कौशल के साथ आक्रमण करता था और इतनी सावधानी रखता था कि उसका परिणाम अनिवार्य्य होता था, उसकी गति का अवरोध असंभव होता था, उसके सामने बड़ी बड़ी सेनाएं तिनके के समान उधरा जाती थीं। एक पुरानी कहावत है कि "मुझे खड़े होने भर को जगह दो मैं सारे संसार को हिला डालूंगा", इसे थोड़ा बदल कर यदि हम इस प्रकार कहें "मुझे अपनी स्थिति को अच्छी तरह जमा लेने दो तो मैं सारे संसार को हिला डालूंगा" तो नेपोलियन के विषय में ठीक घट जाय क्योंकि उसने अपने सारे जीवन में इसी बात का दृष्टांत दिखलाया। इसी मंत्र का अवलंबन करके गौतम बुद्ध ने सारे संसार को हिला दिया। उन्होंने कभी अनुकूल अवसर का आसरा नहीं देखा बल्कि वे सत्य का अनुसरण करते हुए निरंतर अग्रसर होते गए। हमें अवसर की ताक में हाथ पर हाथ रक्खे बैठ न रहना चाहिए बल्कि जो क्षण हमारे सामने आवे उसी में अपने लक्ष्य को आगे बढ़ाना चाहिए। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने जिस समय हिंदी के लिये प्रयत्न आरंभ किया वह समय कुछ बहुत अनुकूल नहीं था। पर उन्होंने हिंदी के लिये अच्छी लंबी चौड़ी राह निकाल दी। जिस कार्य्य में उन्होंने हाथ लगाया उसे पूर्ण धैर्य्य और परिश्रम के साथ निवाहा। इसी से उनकी समस्त रचनाओं में एक विलक्षण पूर्णता दृष्टिगोचर होती है और उनकी निपुणता टपकी पड़ती है। संसार में जितनी बड़ी बड़ी जातियां हुई हैं सब पूर्ण रूप

से कार्य्य निर्वाह करने वाली थीं। यूनानियों ही को लीजिए जिनकी विद्या बुद्धि और वीरता की कहानियां सारे संसार में फैली हुई हैं। प्राचीन हिंदुओं को लीजिए जो कला कौशल के ऐसे ऐसे चिह्न छोड़ गए हैं जिनका इस गिरी दशा में भी हिंदुओं को अभिमान है। उनके हाथ की गढ़ी हुई जो मूर्त्तियां आज हमें पुराने खंडहरों में मिलती हैं उनकी गठन और उनके सौंदर्य्य के सामने आज कल के मंदिरों की मूर्त्तियां हमें नहीं जँचती। वे जैसे जैसे वृहत् और मनोहर काव्य छोड़ गए हैं वैसे फिर इधर पिछले खेवे के हिंदुओं से न बने। उनमें जो पूर्णता दिखलाई पड़ती है वह पीछे के बने काव्यों में नहीं।

आज कल के समय में भी राजा रविवर्म्मा ने चित्रकला में जो चमत्कार दिखाया वह परिश्रम पूर्वक पूर्णता प्राप्त करके ही। वे अपनी कला के अभ्यास और अध्ययन में रात रात भर जागते रह जाते थे। अंगरेज़ों का जो आज इतना प्रचंड प्रताप देखने में आता है उसका कारण उनका अध्यवसाय और प्रत्येक कार्य्य का पूर्ण रूप से करने का जातीय गुण है। उनकी कार्य्यप्रणाली प्रशंसनीय है। पार्लमेंट महासभा का कार्य्य थोड़े ही से लोगों के द्वारा सम्पादित होता है पर ये थोड़े से लोग कठिन परिश्रम करने वाले होते हैं। राज काज के बड़े बड़े पद आराम से पैर फैला कर सोने के लिये नहीं हैं बल्कि घोर मानसिक परिश्रम के लिये हैं। इन पदों को स्वीकार करने वाले बहुत से

लोग तो कठिन परिश्रम करते करते अकाल ही काल के गाल में जा पड़ते हैं।

यदि पूर्णता उत्तम कार्य्य के लिये एक आवश्यक अंग है क्रम-व्यवस्था भी उससे कुछ कम आवश्यक नहीं है। सच तो यों है कि उसके बिना पूर्णता आही नहीं सकती। युवा पुरुषों को सब से बढ़ कर तो यह बात समझ रखनी चाहिए कि यदि उन्हें काम अच्छी तरह से करना है तो वे एक समय में एक ही काम करें और सब से पहले उस काम को करें जो सब से अधिक आवश्यक हो। सारांश यह कि उन्हें जो काम करना हो उसका एक अंदाज़ बांध लें और यह देख लें कि उसके कौन से अंश ऐसे हैं जो ज़रूरी हैं और कौन से ऐसे हैं जिन्हें वे थोड़ी देर के लिये टाल सकते हैं। इसके अनंतर जो अंश सब से कठिन हो उनके लिये अधिक समय और परिश्रम रक्खें। शैली ही कार्य्य की उत्तमता का मूल मंत्र है। इससे मेरा अनुरोध है कि वे नित्य अपने काम का एक नियम बांध लें और विश्राम के लिये भी उपयुक्त समय रख लें। मेरे कहने का तात्पर्य्य यह नहीं कि वे इन नियमों को ब्रह्मा की अटल लीक बना लें, क्योंकि इस प्रकार की बेड़ी डाल लेना बुद्धिमानी नहीं है। मेरा अभिप्राय यह है कि वे अपनी सुविधा के अनुसार ऐसा नियम कर लें कि काम नियमित गति से बराबर चला चले और समय नष्ट न हो। जब वे देखेंगे कि उन्नति के लिये कितना कम समय उनके हाथ में है तब वे आप उसे

व्यर्थ के आमोद प्रमोद में नष्ट करना न चाहगे। बहुतेरे युवा पुरुषों को नित्य नौ नौ घंटे काम करना पड़ता है और यदि उनका काम ऐसा हुआ जिससे जी ऊबे तो उन्हें कम से कम एक घंटा नित्य व्यायाम के लिये रखना ही होगा। इस प्रकार तो दस घंटे निकल गए। नित्य क्रिया करने सोने] घर की देख भाल आदि करने के लिये भी नौ घंटे रख लेने चाहिए। एक घंटा भोजन के लिये चाहिए। इस हिसाब से चार घंटे पढ़ने लिखने और मन बहलाने के लिये बचे। अब यदि इन चार घंटों का उचित उपयोग किया जाय तो एक तत्पर पुरुष बहुत कुछ उन्नति कर सकता है। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि इसमें उसे इस सोच विचार में नष्ट करने के लिये समय न मिलेगा कि अब इसके उपरांत क्या क्या करना चाहिए। अतः उसे पहले ही से सब निश्चित कर रखना चाहिए कि किसके बाद कौन काम करना होगा जिसमें वह चट एक काम छोड़ कर दूसरे में लग जाय। काम-व्यवस्था के इस सिद्धांत का उपयोग वह अध्ययन ही में नहीं काम काज में भी करे इससे होगा क्या कि उसे अपने भिन्न भिन्न कार्य्यों में कोई कठिनाई नहीं होगी और उसका चित्त ठिकाने रहेगा। वह उस हैरानी से बचा रहेगा जो अव्यवस्थितों को हुआ करती है। उसके सब काम एक ढर्रे पर चले चलेंगे, उनमें व्यतिक्रम न होगा यदि कोई अजानकार किसी बड़े स्टेशन पर जाय तो उसे पहले पहल वहां का गोरखधंधा कुछ समझ में न आयेगा,

सब बात व्यवस्था-हीन दिखाई देंगी। वह इधर उधर बहुत सी गाड़ियों को, जिनमें से किसी में मुसाफ़िर भरे होंगे, किसी में माल लदा होगा, कोई खाली होगी, आते जाते देखेगा और सोचेगा कि न जाने क्यों ये लड़कर चूर चूर नहीं हो जातीं। पर जब वह वहां कुछ देर ठहर एक एक बात को ध्यान से देखेगा तब उसे क्रम और व्यवस्था का पता लगेगा और वह जानेगा कि प्रत्येक ट्रेन के लिये अलग अलग लाइन है, प्रत्येक के आने जाने का समय नियत है और प्रत्येक की चाल बँधी हुई है। अर्थात् उसे विदित होगा कि सारा व्यापार पूर्व-निश्चित नियम और व्यवस्था के अनुसार होता है और कोई बात 'संयोग' के ऊपर नहीं छोड़ दी गई है। जब वह इतना जान लेगा तब उसे समझ पड़ेगा कि प्रत्येक मनुष्य जो वहां काम में लगा दिखाई पड़ता है क्योंकर अपने काम को बिना किसी घबड़ाहट के बेधड़क करता चला जाता है, तब वह सोचेगा कि यह सब सुंदर व्यवस्था का फल है कि लोग इतने बेखटके रह कर शांति के साथ अपना अपना काम करते जाते हैं। बहुत से कामों को एक साथ ज़रूरी समझने से-रह रह कर कभी इस काम को अधिक ज़रूरी समझने से और कभी उस काम को-जो हड़बड़ी होती है उसका बचाव क्रम और व्यवस्था पर ध्यान देते रहने से हो सकता है। क्रम-व्यवस्था के लिये धैर्य्य अत्यंत आवश्यक है। यदि धैर्य्य से काम लिया जायगा तो क्रम-व्यवस्था सुगमता से आ जायगी, और यदि

क्रम-व्यवस्था आ गई तो वह अधीरता को पास न फटकने देगी, शांति बनाए रहेगी।

यदि क्रम-व्यवस्था का पूरा ध्यान रक्खा जायगा तो यह अवश्य है कि हर एक काम ठीक समय पर होगा। किसी काम में जल्दी करना भी उतनी ही मूर्खता की बात है जितना किसी काम में देर करना। दोनों अवस्थाओं में समय नष्ट होता है, प्रबंध में गड़बड़ी होती है तथा अव्यवस्था और अनिश्चितात्मकता उत्पन्न होती है। कोई युवक एक राजमंत्री के पास नोकरी के लिये गया। उसने उससे दूसरे दिन दस बजे सवेरे आने के लिये कहा। वह हड़बड़ी के मारे साढ़े नौ ही बजे मंत्री के डेरे पर पहुंचा। पर जब वह मंत्री के सामने गया तब उसने मंत्री का रुख बिलकुल बदला हुआ पाया। मंत्री ने उसे बहुत ऊंचा नीचा सुनाया और कहा कि "मूर्ख हो उतावली करते हैं, तुम यहां से चले जाव।" केवल राजपुरुष ही नहीं सब लोग जो बड़े बड़े काम करते हैं और बड़ी बड़ी बातें सोचते हैं घंटों और मिनटों का ठीक ठीक हिसाब रखते हैं। मान लीजिए कि उन्होंने 'अ' को दस बजे बुलाया और 'ब' को ग्यारह बजे। 'ब' को चाहिए कि वह ठीक समय पर उनके पास आय, यदि वह ऐसा न करके उस समय उनके पास आयगा जो समय उन्होंने 'अ' से मिलने के लिये रक्खा है तो न उन्हीं का कोई लाभ होगा और न उसी का कोई काम निकलेगा। मैंने ऐसे बहुत से असंयमी और अव्यवस्थित

लोगों को देखा है जो बहुधा यात्रा किया करते हैं और समय से घंटा आध घंटा पहले ही तैयार होकर स्टेशनों पर जा कर इधर से उधर टहला करते हैं। मनुष्य के कार्य्य जितने उतावली मे नष्ट होते हैं उतने और किसी वस्तु से नहीं। यदि कोई मनुष्य किसी कार्य्य के एक अंश में ही बहुत सा समय नष्ट कर देगा तो उसे और अंशों को पूरा करने के लिये उतना समय न रह जायगा जितना चाहिए। महाराणा प्रताप सिंह मृत्युशय्या पर पड़े थे। उस समय उन्हें किसी बात पर इतना दुःख नहीं हुआ जितना अपने पुत्र अमरसिंह की उतावली पर। वे कहते हैं—

एक दिवस एहि कुटी अमर मेरे ढिग बैठ्यो।
इतने ही में मृग एक आनि कै तहां जु पैठ्यो॥
हरबराइ संधानि सर अमर चल्यो ता ओर।
कुटिया के या बांस में फँस्यो पाग को छोर॥
अमर तौहू न रुक्यो॥

बढ़न चहत आगे वह पगिया खैंचत पाछे।
पै नहिं जिय मैं धीर छुड़ावै ताको आछे॥
पागहु फटी सिकारहू लग्यो न याके हाथ।
पटकि पाग लखि झोंपड़िहि अतिही क्रोध के साथ॥
बैन मुख ते कढ़े॥

रहु रहु रे निर्बोध अमरगति रोकनहारे।
हम न लेहिंगे सांस बिना तोहि आज उजारे॥

राजभवन निर्मान करि तेरो चिह्न मिटाइ।
जो दुख पाए तोहि मैं सो दैहौं सबै भुलाइ॥
सुखद आवास रचि॥
तबहीं ते ये बैन सूल सम खटकत मम हिय।
यह परि सुख वासना अवसि दुख दिवस बिसारिय॥
अति अमोल स्वाधीनता तुच्छ विषय के दाम।
बेचि, सिसोदिय कीर्ति को यह करिहै अवसि निकाम॥
रुके इम सोच यहि॥

यूरप के एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ के विषय में भी एक घटना प्रसिद्ध है जिससे यह पता लगता है कि वह उतावली से कितना चिढ़ता था। उसने कुछ धर्म संबंधी कागज़ पत्र लिख छोड़े थे और कहा था कि मेरे मरने के दिन इन्हें धर्म्माचार्य्य पोप के पास भेजवा देना। उसे मृत्युशय्या पर देख उसके मरने के एक दिन पहले ही लोगों ने उससे पूछा, कि "क्या ये कागज़ पोप के पास भेज दिए जांय?" उसने कहा—"नहीं अभी कल तक और ठहरो। मैंने अपने जीवन भर उतावली कभी न करने का नियम कर लिया था और मैं सब काम ठीक समय पर करता था"। नीतिज्ञों का यह कथन है कि 'बहुत सोच विचार समय का अपहरण करनेवाला है'। पर उतावली भी ऐसी ही है। बुद्धिमान मनुष्य समय का ठीक ठीक हिसाब के साथ विभाग करके इन दोनों से अपने को

बचाता है। क्रम और व्यवस्था सफलता के मूल मंत्र हैं। सब कार्य्य सुचारु रूप से और सुव्यवस्था के साथ होने चाहिएं।

उस युवा पुरुष को जिसे अपनी जीविका के लिये काम करना पड़ता हो केवल पूर्णता और सुव्यवस्था ही का ध्यान न रखना चाहिए बल्कि उसे संतोषी भी होना चाहिए। मेरे कहने का यह तात्पर्य्य नहीं कि उसे अपनी उन्नति के लिये यत्न न करना चाहिए, उसे अपनी शक्ति और योग्यता का अपनी समृद्धि के लिये उपयोग न करना चाहिए। मेरा मतलब यह है जो काम वह करता हो उसे अपनी शान के खिलाफ़ न समझे। आजकल के नव-युवकोंमें यह बड़ा भारी दोष देखा जाता है कि वे अपने को बहुत बड़ा समझने लगते हैं। अपनी बड़ाई के आगे जिस पेशे को वे करते हैं उसे तुच्छ समझते हुए वे उससे उदासीन रहते हैं और ऐसी चेष्टा प्रगट करते हैं कि मानों यह बड़ा भारी अंधेर हो रहा है जो उन्हें यह काम करना पड़ रहा है। यह दशा देख कर बड़ा खेद होता है क्यों कि इससे नैतिक त्रुटि का आभास मिलता है। इससे यह प्रगट होता है कि उनका मन काम में नहीं लगता है, उनमें अपने कर्त्तव्य का पूरा भाव नहीं है और वे सत्य और मर्य्यादा के सिद्धांतों को नहीं समझते हैं। जिस काम को हम अपने ऊपर लें, चाहे वह जैसा हो, हमारा यह धर्म है कि हम उसे अपनी योग्यता के अनुसार भर सक करें। किसी काम को हम क्यों करें इसका यही उत्तर यथेष्ट है कि हमें उसे करना है।

कृष्णभगवान् ने गीता में प्रसन्नतापूर्वक कर्म में प्रवृत्त होने का उपदेश दिया है। जिस समय अर्जुन मोहवश कर्म से विमुख होना चाहते थे श्रीकृष्ण ने उन्हें सँभाला था, उनकी क्लीवता पर उन्हें धिक्कारा था। इंगलैंड में कार्लाइल नामक प्रसिद्ध ग्रंथकार हो गया है जो अपने जीवन भर कर्म का महत्व ही समझता रहा, सच्चे परिश्रम की पवित्रता ही का उपदेश देता रहा कि मनुष्य को यह विचार नहीं करना चाहिए कि वह किस प्रकार का व्यवसाय या काम करता है, उसे यही देखना चाहिए कि वह अपने काम को किस प्रकार करता है। उसका उपदेश अरण्यरोदन के समान हुआ। उसने कहा "मैं दो ही आदमियों का सम्मान करता हूं तीसरे का नहीं। एक तो परिश्रम में चूर कर्मकार का जो पृथ्वी ही की सामग्रियों से अपने परिश्रम द्वारा पृथ्वी पर मनुष्य का अधिकार स्थापित करता है। मैं उन काम में लगे हुए कड़े खुरखुरे हाथों का आदर करता हूं जिनमें निपुणता मिली हुई सात्विकता का भुवन-व्यापी राजमुकुट रक्खा हुआ है। मुझे उस धूप और शीत खाए हुए धूल धूसरित मुखड़े पर भक्ति है जिससे सीधी सादी बुद्धि टपकती है क्यों कि वह पुरुषार्थी पुरुष का मुखड़ा है। ......परिश्रम किए चलो, परिश्रम किए चलो! तुम अपने कर्त्तव्य में लगे रहो। जिसका जी चाहे उससे विमुख हो तुम उसमें लगे रहो। तुम संसार में सब से अधिक आवश्यक वस्तु अपनी रोटी कमाने

के लिये परिश्रम कर रहे हो। दूसरा मनुष्य जिसकी मैं प्रतिष्ठा करता हूं, और बहुत बढ़ कर प्रतिष्ठा करता हूं, वह है जो अपने शरीरपोषण के लिये नहीं बल्कि आत्मा की पुष्टि के लिये परिश्रम करता है।...यदि कहीं मैं इन दोनों सम्मानित व्यक्तियों के लक्षण और गुण एक ही पुरुष में पाता हूं जो बाहर से तो मनुष्य की सब से पहली आवश्यकता-पूर्त्ति के लिये श्रम करता है और अंतःकरण म मनुष्य की सब से उच्च आवश्यकता पूरी करने के लिये, तो मेरा हृदय उमगने लगता है।"

भक्तों में रैदास चमार का नाम बहुत प्रसिद्ध है। उसमें पुरुषत्व के दोनों लक्षण वर्त्तमान् थे। वह आध्यात्मिक उन्नति के लिये प्रयत्न करता हुआ अपने चमड़े के काम में भी दिन रात लगा रहता था। जाड़े की रात में जब और चमार अपना अपना काम बंद करके पड़ रहते तब भी रैदास भगवान् का भजन करता हुआ, उत्साह के साथ चमड़े की काट छांट और सिलाई करता रहता था। अपने काम से जो थोड़ा बहुत अवकाश मिलता उसे वह साधुओं के सत्संग में बिताता था। एक बार उसके यहां कुछ साधू आए। उन्होंने देखा कि उसकी दूकान पर इधर उधर चमड़े के कटे हुए टुकड़े पड़े हैं, एक किनारे पर ठाकुर जी का छोटा सा सिंहासन रक्खा हुआ है और वह सिर नीचा किए चमड़े में डोभ लगा रहा है। महाभारत में धर्मव्याध की कथा भी इसी प्रकार की है। एक बार जब कौशिक नामक एक मुनि को मोह हुआ तब वे ज्ञानोपदेश

के लिये मिथिला में धर्मव्याध के पास आए और उन्होंने देखा कि वह दूकान पर भांति भांति के पशु पक्षियों के मांस रख कर बेंच रहा है और ग्राहकों की भीड़ लगी हुई है। मुनि ने यह देख कर पूछा कि 'तुम इतने ज्ञानवान् होकर इस काम में क्यों लगे हो?' धर्मव्याध ने उत्तर दिया "महाराज! यह मेरा कुलधर्म है, यह मेरा लौकिक कर्त्तव्य है, इसे मैं नहीं छोड़ सकता, मनुष्य को अपने लौकिक कर्मों का पूर्ण रीति से निर्वाह करते हुए सात्त्विक-शीलता सम्पादन करनी चाहिए। मैं अपने व्यवसाय में लगा रहता हूं और इस बात का प्रयत्न करता हूं कि झूठ न बोलूं, अन्याय न करूं, सत्मार्ग पर चलूं"। इंगलैंड में मिलर नाम का एक प्रसिद्ध पुरुष हो गया है जो संगतराश का काम करता था। कभी कभी वह जाड़े के दिनों में ठंढी हवा के झोंके खाता हुआ घुटने घुटने पानी में खड़ हो कर अपनी टांकी चलाता पर उसके मुंह से आह न निकलती। धीरे धीरे वह अपने काम में इतना निपुण हो गया कि उसके साथी उसके गुण को देख दांतों उंगली दाबते। अपने काम से जो अवकाश का समय मिलता उसे वह आत्मोन्नति में लगाता। उसने अपने बहुत से साथियों को सम्मिलित करके एक समाज खोला जिसकी ओर से हाथ से लिखे हुए पत्र सम्पादित होते, जिनमें अच्छे अच्छे निबंध रहते थे। उसमें उन दोनों पुरुषों के लक्षण थे जिनका ऊपर उल्लेख हुआ है। वह अपनी जीविका के लिये भी भरपूर मिहनत करता था और आत्मोन्नति के

लिये भी। जितना सुखी वह था उतने वे लोग कभी नहीं हो सकते जो किसी काम को अपनी शान के खिलाफ़ समझते हैं। उसने अपने एक मित्र को एक बार लिखा "थोड़ी देर के लिये यहां आकर देख जाओ कि कैसे स्थान में मनुष्य सुखी रह सकता है। छाजन के छेदों में से, जो सुंदर झिलमियों का काम देते हैं, धूप छन छन कर आती है। कोठरी में दो खिड़कियां हैं जिनमें से एक में तो सदा चौखटा लगा हुआ है और एक में घास फूस और पत्थर भरा हुआ है। एक कोने में एक गड्ढे में आग रक्खी है जिसके ऊपर भोजन पकाने का बरतन लटक रहा है। धुआं छत के छेदों से और खिड़कियों की राह से निकल रहा है। अनाज का बोरा एक खूंटी पर लटकाया हुआ है, जहां चूहे नहीं पहुंच सकते। हम लोगों के सामान का क्या कहना है! पत्थर की दो मोटी पटिया बैठने के लिये मज़बूत सी मज़बूत कुरसियों का काम दे रही हैं। बिस्तर भी अपने ढंग का निराला ही है। यह पुराने किवाड़ों पर पयाल बिछा कर बनाया गया है। बरतन भी एक बटलोइ और एक काठ की कठवत के सिवाय और कुछ नहीं है। आटा दाल लकड़ी सब का ख़र्च मिला कर आठ आने रोज़ से अधिक नहीं है। संसार का सुख चाहे लोग जहां समझें पर मैं यहां पूरे सुख से दिन बिताता हूं"।

अपने काम में संतुष्ट रहने ही के गुण के कारण और देशों के लोग, जो सच्ची मिहनत में कोई शर्म नहीं समझते हिंदु-

स्तानियों की अपेक्षा बहुत जल्दी बढ़ते हैं। जब कि एक मध्यम श्रेणी का हिंदुस्तानी नवयुवक इस आसरे में बड़ा ताकता है कि कोई ऐसा काम मिले तो करूं जिससे समाज में तथा अपने मेल के लोगों में मेरी हेटी न हो दूसरे देश का आदमी जो काम उसके सामने आता है उसे कर चलता है और अच्छी तरह से करता है और इस प्रकार क्रमशः एक सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी पर चढ़ता हुआ संसार का अनुभव और जानकारी प्राप्त करता हुआ अपने को बड़े बड़े कामों के योग्य बना लेता है। वह बराबर बढ़ता चला जाता है और हिंदुस्तानी खड़ा मुँह ताकता है। दूसरे देश का आदमी यदि आवश्यकता पड़ती है तो छोटा से छोटा काम कर लेता है और इस बात को शर्म नहीं करता कि लोग उसे उस काम को करते देख क्या कहेंगे। वह कुछ करने की अपेक्षा कुछ न करना अधिक लज्जा की बात समझता है। जो कुछ वह करता है उसे अच्छी तरह लिप्त होकर जी जान से करता है और उसे अपनी शान के ख़िलाफ़ नहीं समझता। हिंदुस्तानियों में अपनी शान बनाए रखने का रोग बड़ा भारी है, इनमें से बहुतेरे लोग चाहे भूखों मरेंगे पर ऐसा काम न करेंगे जिसमें वे अपनी हेटी समझते हैं। वे कहेंगे कि 'भूखा सिंह कहीं घास खाता है?' बहुत से लोग ऐसे हैं जो यदि सौदागरी करें, जिल्दबंदी करें, घड़ीसाज़ी करें तो बहुत अच्छा काम कर सकते हैं और बहुत कुछ संतोष और सुख प्राप्त कर सकते हैं, पर वे १०) या १५) की मुहर्रिरी को बड़ी

मारी इज़्ज़त समझते हैं और झट उस गुलामी के लिये मुंह के बल गिरते हैं। इस प्रकार वे तन और मन से पूरे दास हो जाते हैं क्योंकि चिट्ठियों की नक़ल करते करते और अंकों को जोड़ते जोड़ते उनकी विचार शक्ति क्षीण हो जाती है और उनके अंतःकरण में जो प्रतिभा वा शुद्धता रहती है सब निकल जाती है। मुझे इस बात पर आश्चर्य्य होता है कि इस देश के लोग अपनी आँखों से और देशों को व्यापार और कारीगरी द्वारा बढ़ते देख कर भी किस प्रकार उद्योग और धंधों को तुच्छ दृष्टि से देखते हैं! कोई कारण नहीं कि कचहरी का एक मुचड्डू मुहर्रिर वा क्लर्क अपने को एक चलत पुरज़े कारीगर से बढ़ कर समझे। यदि सच पूछिए तो एक कारीगर का काम एक मुहर्रिर के काम से अधिक विचार और बुद्धि का है। हाथों में स्याही पोतना बारीकी के साथ टांकी चलाने से क्यों बढ़कर प्रतिष्ठित समझा जाय? लोग कह सकते हैं कि एक मुहर्रिर का उठना बैठना ज़रा और तरह के लोगों के साथ होगा। पर ये और तरह के लोग अधिकांश कैसे होते हैं? छोटे छोटे नए मुहर्रिरों को कैसे साथी मिलेंगे? वही न जो बैठ कर हा हा ठी ठी करते हैं, ताश खेलते हैं और गलियों में मुजरे सुनते फिरते हैं? यदि वे ऐसे ही हैं और उनका आनंद इसी प्रकार का है तो वे बहुत ही ओछे विचार और निकृष्ट बुद्धि के हैं। पर यदि आप बड़े बड़े कारखानों और कार्य्यालयों में जा कर देखिए तो आपको गुण में, अनुभव में, सच्चाई में, ईमानदारी में, उनसे बढ़ चढ़ कर

लोग मिलेंगे जो नज़ारत के दफ़्तरों और वकीलों के डेरों पर मिलते हैं। अपने अपने कामों में लगे हुए उन गुणी पुरुषों के विचार कहीं ऊंचे होंगे, उनमें आत्ममर्यादा का भाव कहीं अधिक होगा।

अस्तु! मैं अपने नवयुवक पाठकों को यह सम्मति देता हूं कि जो काम उनके सामने आवे उसे वे करें, यदि उन्हें इस बात का निश्चय है कि वे उसे अच्छी तरह से कर सकेंगे। चाहे जो काम हो वे अपने अध्यवसाय और गुण के बल से उसे उच्च और प्रतिष्ठित करके दिखला सकते हैं। एक बार किसी सरदार का कोई संबंधी हत्या के अपराध में पकड़ा गया। सरदार ने बादशाह से जाकर कहा "यदि उसे फाँसी होगी तो हमारे कुल के लिये बड़ी अप्रतिष्ठा की बात होगी"। बादशाह ने उत्तर दिया "अप्रतिष्ठा की बात अपराध है, दंड नहीं"। अतः यह बात निश्चय समझो कि किसी काम में अप्रतिष्ठा नहीं होती बल्कि जिस ढंग या भाव से वह किया जाता है उससे अप्रतिष्ठा होती है। दूकानदारी, मुहर्रिरी, कारीगरी—कोई काम हो तुम अपनी सादी रहन और उच्च विचार से अपने पेशे को प्रतिष्ठित बना सकते हो। तुम उस काम को अपना काम समझ कर प्रसन्नतापूर्वक उत्साह के साथ किए चलो, इस बात की परवाह न करो कि दुनिया उसे कैसा समझती है। परवाह तुम केवल इस बात की रक्खो कि तुम अपना कर्त्तव्य भली भांति कर रहे हो। इस रीति से आत्मा में शांति और

संतोष स्थापित करते हुए और चुपचाप अपनी जानकारी बढ़ाते हुए तुम अपने को निरंतर अधिक योग्य बनाते रहो और जब दूसरे उच्च पथ पर बढ़ने का अवसर आवे तब चट उस पर हो जाओ।

तुम्हारे लिये एक और अच्छी बात यह होगी कि तुम अपने व्यवहार और काम काज में भद्रता का भाव लाओ, वह शिष्टता और विनय दिखलाओ जो तुमने घर में और समाज में रह कर सीखी है। यदि हम सब लोग मिलकर आपस के रगड़े झगड़े मिटाकर शांति के मार्ग का अवलंबन करें और उसके कंटकों को दूर करें तो जीवन का व्यापार कितना सुगम हो जाय! यदि कार्य्य में लगे हुए सब लोग मृदुलता के मंत्र का प्रयोग करें तो वह कार्य्य बड़ी सुगमता और बड़े आनंद के साथ हो। क्लर्क वा कारीगर होकर भी मनुष्य भलामानुस हो सकता है और अपने साथियों, मालिकों तथा उन सब लोगों के साथ जिनसे काम पड़ता है उस मृदुलता का व्यवहार कर सकता है जो चित्त के उत्तम संस्कार और हृदय की उदारता से उत्पन्न होता है। एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ ने अपने पुत्र को शिक्षा देते समय मृदुलता का लक्षण "छोटी मोटी बातों में उदारता अर्थात् जीवन के नित्य प्रति के छोटे मोटे व्यापारों में दूसरों का ध्यान पहले और अपना पीछे रखना ही बतलाया"। यही मृदुलता है जो युवा पुरुष के जीवन में उसके नित्य प्रति के व्यवहार में एक नए आनंद का संचार करती है।

क्या दफ़्तर में, क्या कारखाने में उसके दृष्टांत का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है और ऐसे बहुत से झगड़े बखेड़े जिनमें निर्बल लोगों को सबल लोगों से हानि पहुंच जाया करती है नहीं उठने पाते। सच्ची मृदुलता उन लोगा की छोटी मोटी आवश्यकताओं की ओर ध्यान देने में है जो हमारे साथ हैं। यह बात अभ्यास से आती है। लंबे चौड़े सलाम करना, अदब क़ायदे वर्त्तना, हां जी हां जी करना–मृदुलता नहीं है। मृदुलता सरल, स्वाभाविक, और पुरुषार्थ-पूर्ण होनी चाहिए। ये बातें तभी आ सकती हैं जब हमारा हृदय उदार हो और हम निरंतर उनके प्रति कोमल चेष्टा प्रदर्शित करते रहने का उद्योग करें जिनके साथ हमें बातचीत करना वा रहना पड़ता है।

भद्रता एक ऐसा गुण है जिससे सब लोग मोहित हो जाते हैं। मैं एक बार एक सरकारी दफ़्तर में था जहां एक दीन सुकुमार स्त्री किसी काम के लिये खड़ी थी। वह बहुत दूर से चल कर आई थी और उसकी आकृति से जान पड़ता था कि वह दरिद्रता के घोर दुःख से दबी हुई है। वह थकी मांदी और मुरझाई हुई बड़ी देर से ओसरे में खड़ी थी और क्लर्क लोग आराम से टांग फैलाए कुरसियों पर बैठे थे। जैसा कि सब जगह के क्लर्कों का दस्तूर है उन्हें उसके काम को झटपट भुगता देने की कुछ भी परवाह न थी। वहां कोई चौकी वा तिपाई भी न थी जिस पर वह बैठ जाती। मैं अपने मन में उसकी सहायता करने का विचार कर ही रहा था कि इतने में एक नम्र-युवक क्लर्क

कुछ सकुचाता हुआ उठा, और उसने अपनी कुरसी को अंगीठी के पास ले जा कर उस स्त्री को बठने के लिये कहा। इतना कर के वह फिर अपनी जगह पर चला आया। मैं ने देखा कि उस के साथी उसके इस कार्य्य को मन ही मन सराह रहे हैं। यद्यपि उनमें परोपकार में तत्पर होने की बुद्धि नहीं थी पर परोपकार को सराहने की बुद्धि थी। इसके उपरांत मुझे यह देख कर बड़ा आश्चर्य्य हुआ कि उन सभा ने जो पहले उसकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं देते थे, चटपट उसके काम को कर दिया। सज्जनता का ऐसा प्रभाव पड़ता है! मैंने संवादपत्रों में पढ़ा था कि एक बार एक स्टेशन मास्टर को एक वृद्धा स्त्री से अचानक बहुत सी संपत्ति प्राप्ति हुई थी। उस स्टेशन मास्टर ने उस स्त्री के साथ कभी कुछ मृदुलता का व्यवहार किया था। मरा अभिप्राय यह नहीं कि मेरे नवयुवक पाठक इस प्रकार के पुरस्कार के लोभ से इस गुण का सम्पादन करें। उनके लिये सब से बढ़ कर पुरस्कार तो वह सच्चा आनंद है जो शिष्टता के प्रत्येक व्यवहार से प्राप्त होता है, जो दया का आचरण करने और कृपापूर्ण वचन बोलने से प्राप्त होता है। मैं एमर्सन की भांति यह तो नहीं कहता कि मैं अशिष्ट और बेढंगी चाल ढाल के आदमी के साथ बैठने की अपेक्षा ऐसे आदमी के साथ मजे म बैठ सकता हूं जिसमें सत्य और शास्त्रमर्य्यादा का भाव न हो, पर इतना अवश्य कहता हूं कि शिष्ट और सभ्य व्यवहार से सत्य और भी चमक उठता है। सभ्य और असभ्य आचरण

जो कुछ हम हैं और जो कुछ हमारा है, हमारा शरीर, हमारी आत्मा, हमारे कर्म, हमारे भोग, हमारी घर की और बाहर की दशा, हमारे बहुत से अवगुण और थोड़े से गुण सब इसी बात की आवश्यकता प्रगट करते हैं कि हमें अपनी आत्मा को नम्र रखना चाहिए। नम्रता से मेरा अभिप्राय दब्बूपन से नहीं है जिसके कारण बात बात में मनुष्य दूसरों की सम्मति पर निर्भर रहता है, जिससे उसका संकल्प क्षीण और उसकी प्रज्ञा मंद हो जाती है, जिसके कारण वह आगे बढने के समय भी पीछे रहता है और अवसर पड़ने पर चट-पट किसी बात का निर्णय नहीं कर सकता। मनुष्य का बेड़ा अपने ही हाथ में है चाहे वह जिधर लगावे। सच्ची आत्मा वही है जो प्रत्येक दशा में, प्रत्येक स्थिति के बीच अपनी राह आप निकालती है।

अब तुम्हें क्या करना चाहिए इसका ठीक ठीक उत्तर तुम्हीं को देना होगा, दूसरा कोई नहीं दे सकता। कैसा भी विश्वासपात्र मित्र हो तुम्हारे इस काम को वह अपने ऊपर नहीं ले सकता। हम अनुभवी लोगों की बातों को आदर के साथ सुनें, बुद्धिमानों की सलह को कृतज्ञतापूर्वक मानें, पर इस बात को निश्चय समझ कर कि हमारे कामों ही से हमारी रक्षा वा हमारा पतन होगा हमें अपने विचार और निर्णय की स्वतंत्रता को दृढ़तापूर्वक बनाए रखना चाहिए। जिस युवा-पुरुष की दृष्टि सदा नीची रहती है उसका सिर कभी ऊपर

होगा। नीची दृष्टि रखने से यद्यपि हम रास्ते पर रहेंगे पर न बात को न देखेंगे कि वह रास्ता कहां ले जाता है। चित्त की स्वतंत्रता का मतलब चेष्टा की कठोरता वा प्रकृति की उग्रता नहीं है। अपने व्यवहार में कोमल रहो और अपने उद्देश्यों को उच्च रक्खो, इस प्रकार नम्र और उच्चाशय दोनों बनो। अपने मन को कभी मरा हुआ न रक्खो, जितना ही जो मनुष्य अपना लक्ष्य ऊपर रखता है उतना ही उसका तीर ऊपर जाता है।

संसार में ऐसे ऐसे दृढ़चित्त पुरुष हो गए हैं जिन्होंने मरते दम तक सत्य की टेक नहीं छोड़ी, अपनी आत्मा के विरुद्ध कोई कार्य्य नहीं किया। राजा हरिश्चंद्र के ऊपर इतनी इतनी आपत्तियाँ आईं पर उन्होंने अपना सत्य नहीं छोड़ा। उनकी प्रतिज्ञा यही रही—

चंद्र टरै, सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार।
पै दृढ़ श्री हरिचंद्र को, टरै न सत्य विचार॥

महाराणा प्रताप सिंह जंगल जंगल मारे मारे फिरते थे, अपनी स्त्री अपने बच्चों को भूख से पीड़ित देखते थे पर उन्हों ने उन लोगों की बात न मानी जिन्होंने उन्हें अधीनतापूर्वक संधि करने की सम्मति दी, क्योंकि वे जानते थे कि अपनी मर्य्यादा की चिंता जितनी अपने को हो सकती है उतनी दूसरों को नहीं। हकीक़त राय नामक वीर बालक ही को देखो जिसने जल्लाद की चमकती तलवार गरदन पर देख कर भी

की परख यह बताई गई है कि एक से मेल जोल बढ़ता है और दूसरे से घटता है। मेल जोल से कार्य्य-निर्वाह सुगम होता है। इससे प्रत्येक स्थान पर भद्रता कितनी आवश्यक है यह समझने की बात है।

तीसरा प्रकरण ।

आत्म-बल ।

विद्वानों का यह कथन बहुत ठीक है कि नम्रता ही स्वतंत्रता की धात्री वा माता है। लोग भ्रमवश अहंकारवृत्ति को उसकी माता समझ बैठते हैं पर वह उसकी सौतेली माता है जो उसका सत्यानाश करती है। चाहे यह संबंध ठीक हो या न हो पर इस बात को सब लोग मानते हैं कि आत्मसंस्कार के लिये थोड़ी बहुत मानसिक स्वतंत्रता परम आवश्यक है। चाहे उस स्वतंत्रता में अभिमान और नम्रता दोनों का मेल हो और चाहे वह नम्रता ही से उत्पन्न हो यह बात तो निश्चय है कि जो मनुष्य मर्य्यादापूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहता है उसके लिये वह गुण अनिवार्य्य है, जिससे आत्मनिर्भरता आती है और जिससे अपने पैरों के बल खड़ा होना आता है। युवा पुरुष को यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि वह बहुत कम बातें जानता है, अपने ही आदर्श से वह बहुत नीचे है, और उसकी आकांक्षाएं उसकी योग्यता से कहीं बढ़ी हुई हैं। उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह अपने बड़ों का सम्मान करे, छोटों और बराबर वालों से कोमलता का व्यवहार करे। ये बातें आत्ममर्य्यादा के लिये आवश्यक हैं। यह सारा संसार

जो कुछ हम हैं और जो कुछ हमारा है, हमारा शरीर, हमारी आत्मा, हमारे कर्म, हमारे भोग, हमारी घर की और बाहर की दशा, हमारे बहुत से अवगुण और थोड़े से गुण सब इसी बात की आवश्यकता प्रगट करते हैं कि हमें अपनी आत्मा को नम्र रखना चाहिए। नम्रता से मेरा अभिप्राय दब्बूपन से नहीं है जिसके कारण बात बात में मनुष्य दूसरों की सम्मति पर निर्भर रहता है, जिससे उसका संकल्प क्षीण और उसकी प्रज्ञा मंद हो जाती है, जिसके कारण वह आगे बढ़ने के समय भी पीछे रहता है और अवसर पड़ने पर चटपट किसी बात का निर्णय नहीं कर सकता। मनुष्य का बेड़ा अपने ही हाथ में है चाहे वह जिधर लगावे। सच्ची आत्मा वही है जो प्रत्येक दशा में, प्रत्येक स्थिति के बीच अपनी राह आप निकालती है।

अब तुम्हें क्या करना चाहिए इसका ठीक ठीक उत्तर तुम्हीं को देना होगा, दूसरा कोई नहीं दे सकता। कैसा भी विश्वासपात्र मित्र हो तुम्हारे इस काम को वह अपने ऊपर नहीं ले सकता। हम अनुभवी लोगों की बातों को आदर के साथ सुनें, बुद्धिमानों की सलाह को कृतज्ञतापूर्वक मानें, पर इस बात को निश्चय समझ कर कि हमारे कामों ही से हमारी रक्षा या हमारा पतन होगा हमें अपने विचार और निर्णय की स्वतंत्रता को दृढ़तापूर्वक बनाए रखना चाहिए। जिस युवा-पुरुष की दृष्टि सदा नीची रहती है उसका सिर कभी ऊपर

न होगा। नीची दृष्टि रखने से यद्यपि हम रास्ते पर रहेंगे पर इस बात को न देखेंगे कि वह रास्ता कहां ले जाता है। चित्त की स्वतंत्रता का मतलब चेष्टा की कठोरता वा प्रकृति की उग्रता नहीं है। अपने व्यवहार में कोमल रहो और अपने उद्देश्यों को उच्च रक्खो, इस प्रकार नम्र और उच्चाशय दोनों बनो। अपने मन को कभी मरा हुआ न रक्खो, जितना ही जो मनुष्य अपना लक्ष्य ऊपर रखता है उतना ही उसका तीर ऊपर जाता है।

संसार में ऐसे ऐसे दृढ़चित्त पुरुष हो गए हैं जिन्होंने मरते दम तक सत्य की टेक नहीं छोड़ी, अपनी आत्मा के विरुद्ध कोई कार्य्य नही किया। राजा हरिश्चंद्र के ऊपर इतनी इतनी आपत्तियाँ आई पर उन्होंने अपना सत्य नहीं छोड़ा। उनकी प्रतिज्ञा यही रही—

चंद्र टरै, सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार।
पै दृढ़ श्री हरिचंद्र को, टरै न सत्य विचार॥

महाराणा प्रताप सिंह जंगल जंगल मारे मारे फिरते थे, अपनी स्त्री अपने बच्चों को भूख से पीड़ित देखते थे पर उन्हों ने उन लोगों की बात न मानी जिन्होंने उन्हें अधीनतापूर्वक संधि करने की सम्मति दी, क्योंकि वे जानते थे कि अपनी मर्य्यादा की चिंता जितनी अपने को हो सकती है उतनी दूसरों को नहीं। हकीकत राय नामक वीर बालक ही को देखो जिसने जल्लाद की चमकती तलवार गरदन पर देख कर भी

क़ाज़ी के सामने अपना धर्म्म परित्याग करना स्वीकार नहीं किया। सिक्ख गुरु गोविंद सिंह के दोनों लड़के जीते जी दीवार में चुन दिए गए पर वे अपना धर्म्म छोड़ कर मुसलमान होने के नाम पर 'नहीं' 'नहीं' कहते रहे। एक बार एक रोमन राजनीतिज्ञ बलवाइयों के हाथ में पड़ गया। बलवाइयों ने उससे व्यंग्यपूर्वक पूछा कि "अब तेरा क़िला कहां है"। उसने हृदय पर हाथ रख कर उत्तर दिया "यहां"। ज्ञान के जिज्ञासुओं के लिये यही बड़ा भारी गढ़ है। मैं निश्चयपूर्वक कहता हूं जो युवा पुरुष सब बातों में दूसरों का सहारा चाहते हैं, जो सदा एक न एक नया अगुआ ढूंढ़ा करते हैं और उसके अनुयायी बना करते हैं वे आत्मसंस्कार के कार्य्य में उन्नति नहीं कर सकते। उन्हें स्वयं विचार करना, अपनी सम्मति आप स्थिर करना, दूसरों की उचित बातों का मूल्य समझते हुए भी उनका अंधभक्त न होना, सीखना चाहिए। तुलसी दास जी को लोक में जो इतनी सर्वप्रियता और कीर्त्ति प्राप्त हुई, उनका दीर्घ जीवन जो इतना महत्त्वमय और शांतिमय रहा सब इसी मानसिक स्वतंत्रता, निर्द्वंद्वता और आत्मनिर्भरता के कारण। वहीं उनके समकालीन केशवदास को देखिए जो जीवन भर विलासी राजाओं के हाथ की कठपुतली बने रहे, जिन्होंने आत्मस्वातंत्र्य की ओर कम ध्यान दिया और अंत में आप अपनी बुरी गति की। एक इतिहासकार कहता है—"प्रत्येक मनुष्य [illegible]र भाग्य उसके हाथ में है। प्रत्येक मनुष्य अपना जीवन श्रेष्ठ

रीति से निर्वाह कर सकता हूँ। यही मैं ने किया है और यदि अवसर मिले तो फिर यही करूं।" इसे चाहो स्वतंत्रता कहो चाहे आत्मनिर्भरता कहो, चाहे स्वावलम्बन कहो, जो कुछ कहो यह वही भाव है जिससे मनुष्य और दास में भेद जान पड़ता है, यह वही भाव है जिसकी प्रेरणा से राम लक्ष्मण ने घर से निकल बड़े पराक्रमी वीरों पर विजय प्राप्त की, यह वही भाव है जिसकी प्रेरणा से हनुमान् ने अकेले सीता की खोज की, यह वही भाव है जिसकी प्रेरणा से कोलंबस ने अमेरिका इतना बड़ा महाद्वीप ढूंढ़ निकाला। चित्त की इसी वृत्ति के बल पर सूरदास ने अकबर के बुलाने पर फ़तहपुर सिकरी जाने से इनकार किया और कहा—

"कहा मोको सीकरी सो काम"

इसी चित्त-वृत्ति के बल से मनुष्य परिश्रम के साथ दिन काटता और दरिद्रता के दुःख को झेलता है जिसमें उसे ज्ञान के अमित भांडार में से कुछ थोड़ा बहुत मिल जाय। इसी चित्तवृत्ति के प्रभाव से हम प्रलोभनों का निवारण करके उन्हें पददलित करते हैं, कुमंत्रणाओं का तिरस्कार करते हैं और शुद्ध चरित्र के लोगों से प्रेम और उनकी रक्षा करते हैं। इसी चित्त-वृत्ति के प्रभाव से युवा पुरुष कार्य्यालयों में शांत और सच्चे रह सकते हैं और उन लोगों की बातों में नहीं आ सकते जो स्वयं अपनी मर्य्यादा खो कर दूसरों को भी अपने साथ बुराई के गड्ढे में गिराना चाहते हैं। इसी चित्तवृत्ति के प्रताप से

यड़े वड़े लोग ऐसे समयों में भी जब कि उनके और साथियों ने उनका साथ छोड़ दिया है अपने महत्कार्य्यों में अग्रसर होते गए हैं और यही कहने में समर्थ हुए हैं कि निपुण उत्साही और परिश्रमी पुरुषों के लिये कोई अड़चन ऐसी नहीं जो कहे कि 'बस यहीं तक, और आगे न बढ़ना'। इसी चित्तवृत्ति की दृढ़ता के सहारे दरिद्र लोग दरिद्रता से और अपढ़ लोग अज्ञानता से निकल कर उन्नत हुए हैं तथा उद्योगी और अध्यवसायी लोगों ने अपनी समृद्धि का मार्ग निकाला है। इसी चित्तवृत्ति के अवलंबन से पुरुषसिंहों को यह कहने की क्षमता हुई है कि "मैं राह ढूंढूंगा या राह निकालूंगा"। यही चित्तवृत्ति थी जिसकी उत्तेजना से शिवाजी ने थोड़े से वीर मरहठे सिपाहियों को लेकर औरंगजेब की बड़ी भारी सेना पर छापा मारा और उसे तितर बितर कर दिया। यही चित्तवृत्ति थी जिसके सहारे से एकलव्य बिना किसी गुरु या संगी साथी के जंगल के बीच निशाने पर तीर पर तीर चलाता रहा और अंत में एक बड़ा धनुर्धर हुआ। यही चित्तवृत्ति है जो मनुष्य को सामान्य जनों से उच्च बनाती है, उसके जीवन को सार्थक और उद्देश्यपूर्ण करती है तथा उसे उत्तम प्रभावों को ग्रहण करने योग्य बनाती है। जिस मनुष्य की बुद्धि और चतुराई उसके दृढ़ हृदय ही के आश्रय पर स्थित रहती है वह जीवन और कर्मक्षेत्र में स्वयं भी श्रेष्ठ और उत्तम रहता है और दूसरों को भी श्रेष्ठ और उत्तम बनाता है। प्रसिद्ध उपन्यासकार

स्काट एक वार ऋण के बोझ से विलकुल दव गया। उसके मित्रों ने उसकी सहायता करनी चाही पर उसने यह वात स्वीकार नहीं की और स्वयं अपनी प्रतिभा ही का सहारा लेकर अनेक उपन्यास थोड़े ही दिनों के वीच लिखकर लाखों रुपये का ऋण उसने सिर पर से उतार दिया।

घर में, वन में, संपद् में, विपद् में मनुष्य को अपने अंतःकरण ही का सहारा रहता है। अंतःकरण का वल बड़ा भारी वल है जो भौतिक अवस्थाओं की कुछ भी परवाह नहीं करता। जो युवा पुरुष अपना काम अच्छी तरह और ईमानदारी से करता है, जो अपने चित्त में उत्तम विचारों को धारण करता है, जिसमें सत्य और सौंदर्य्य के आदर्श का भाव जागृत रहता है, जो भरसक मनुष्य जाति के नाना कष्टों को दूर करने का यत्न करता है, जो ज्ञान के प्रकाश के लिये निरंतर दृढ़ उद्योग करता है, जो संसार के भोग विलास की प्रेरणा का तिरस्कार करता है, जो उपस्थित वस्तुओं के गुण दोष की जांच करने में वेधड़क रहता है, जिसका हृदय अवलाओं के प्रति कोमल रहता है, जो अपनी वुद्धि और जानकारी वढ़ाने का अखंड प्रयत्न करता है, जो परमेश्वर को सर्वत्र उपस्थित मानता हुआ अपने तथा अपने वंधु वांधवों के कल्याण के लिये हाथ जोड़कर प्रार्थना करता है उसी को मैं स्वतंत्र कहूंगा। वह जीवन यात्रा में वरावर वढ़ता जायगा, सहारे के लिये किसी का हाथ न पकड़ेगा और टेकने के लिये किसी की लाठी मगनी न

माँगेगा। मनुष्य को तीन वस्तुओं का अध्ययन करना चाहिए। ईश्वर को प्रत्यक्ष करने के लिये उसे सृष्टि का अध्ययन करना चाहिए, अपने आपको पहचानने के लिये अपनी आत्मा का अध्ययन करना चाहिए, और अपने निकटवर्ती लोगों से स्नेह करने के लिये धर्म्मग्रंथों का पठन पाठन करना चाहिए। इसी प्रकार के अध्ययन से स्वतंत्रता के उच्च भाव की वृद्धि होगी और आशा, विश्वास तथा आश्वासन की प्राप्ति होगी।

अपनी स्वतंत्रता को सुरक्षित रखना तो युवा पुरुष के लिये अच्छी बात है ही पर उसे प्रत्येक दशा में धीरमती होना चाहिए। उसे अन्याय का विरोध और अत्याचार का अवरोध करना चाहिए, उसे दूसरों का ध्यान पहले और अपना पीछे रखना चाहिए, उसे ऐसे स्थलों पर वीरता दिखानी चाहिए जहां शरीर की वा धर्म-बुद्धि की हानि का भय हो, उसे आत्मोत्सर्ग का भाव धारण करना चाहिए। मैंने कहीं पर दो राजपूत वीरों का वृत्तांत पढ़ा था जिसका मेरे चित्त पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। इन दोनों राजपूतों में बहुत दिनों का वैर चला आता था। एक दिन की बात है कि इनमें से एक क्रोध के आवेश में दूसरे के प्राण लेने की इच्छा से नगर में निकला। वह थोड़ी दूर गया था कि उसने देखा कि लोग घबराहट के साथ सड़क छोड़कर इधर उधर भागे जा रहे हैं। देखते ही देखते सड़क मनुष्यों से खाली हो गई और सामने से एक मतवाला हाथी आता दिखाई पड़ा। राजपूत एक कोने में छिप रहा। हाथी

क्रोध से सूंड़ फटकारता चला आता था। संयोगवश भागने वालों में से किसी का एक बालक सड़क पर छूट गया था। हाथी उसके बिलकुल पास पहुंच गया और उसको चीर कर फेंकना ही चाहता था कि चट किसी ओर से एक मनुष्य फुरती के साथ दौड़ा आया और उस लड़के को गोद में लेकर किनारे निकल गया। जब हाथी दूर निकल गया तब लोग धन्य धन्य करते हुए उसके पास इकट्ठे हुए। राजपूत भी कोने में से निकल कर वहां पहुंचा। निकट जाने पर उसे विदित हुआ कि वह मनुष्य जिसने उस बालक की इस वीरता के साथ प्राण की रक्षा की थी वही दूसरा राजपूत था जिसके प्राण लेने की इच्छा से वह निकला था। यह देखते ही उसकी आंखों में आंसू आ गया और वह उसके गले से लिपट कर कहने लगा, "भाई! मैं आज तुम्हारा प्राण लेने के लिये निकला था, पर तुम्हें इस वीरता के साथ जीवन-दान देते देख मेरी आंखें खुल गई। तुम्हारे ऐसे धर्मवीर के प्रति दुर्भाव रखना अधर्म है"। मेरी समझ में तो इस राजपूत की वीरता उन राजपूतोंसे कहीं बढ़ चढ़ कर थी जो रणक्षेत्र में गर्व के साथ शत्रुओं के हृदय में चमचमाते हुए भाले भोंकते हैं। दूसरों की रक्षा के लिये अपनी रक्षा का ध्यान न रखने का जो महत्त्वपूर्ण दृष्टांत इस राजपूत ने दिखलाया वही धर्मवीरता का चरम लक्षण है। असहाया सीता जी को जब दुष्ट रावण रथ पर चढ़ा कर लिये जा रहा था तब जटायू से न देखा गया। जब तक उसके शरीर

में प्राण रहा तब तक वह अन्याय के दमन करने के लिये सीता जी को छुड़ाने के लिये लड़ता रहा। इस प्रकार के उत्कट और भयानक रूप में अपनी वीरता प्रकट करने का अवसर तो शायद हमें न मिले पर यदि हममें उसका भाव है तो हमे उसके प्रदर्शन के बहुत से अवसर घर में, समाज में, नित्य के व्यवहार में मिल सकते हैं।

वीरता का एक और दृष्टांत लीजिए। किसी टापू में एक बड़ी सेना उतरी थी। सेना-नायक को मालूम हुआ कि उस टापू में कुछ दिनों से एक घड़ियाल की तरह का एक महा-भयंकर जंतु आता है जो लोगों को पकड़ पकड़ कर खा जाया करता है। सेना-नायक ने उसे मारने की आज्ञा दी। बहुत से वीरों ने उसके मारने का उद्योग किया पर वे सबके सब उसके मुंह में चले गए। अंत में सेनानायक ने हार कर आज्ञा दी "जाने दो उसके मारने का प्रयत्न न करो"। सेना में एक वीर युवक था। उसे यह आज्ञा पसंद न आई क्योंकि वह उस भीषण जंतु को, जिसने इतने मनुष्यों के प्राण लिए थे, मार कर यश और अनुग्रह प्राप्त करना चाहता था। उसने उस भीषण जंतु की एक मूर्त्ति बनाई, अपने दो कुत्तों को उसके पेट पर आक्रमण करना सिखाया और अपने घोड़े को उसके सामने ठहरने का अभ्यास कराया। जब वह पूरी तैयारी कर चुका तब वह उस जंतु की कंदरा की ओर गया। उसने तुरंत अपने कुत्तों को उस पर छोड़ दिया और आप भाले से उसे मारने

लगा। अंत में वह जंतु मर गया। जब यह संवाद उस टापू में फैला तब वहाँ के निवासी उसे बड़े आदर और धूमधाम के साथ उसके सेनानायक के पास ले गए। सेनानायक उससे कुछ रुखाई के साथ मिला और त्योरी चढ़ा कर बोला "धर्मवीर का पहला कर्त्तव्य क्या है ?" उस युवक ने संकुचित और लज्जित हो कर उत्तर दिया "आज्ञा-पालन"। सेना-नायक ने उसकी वीरता का सम्मान करते हुए कहा—"तुमने मेरी आज्ञा भंग करके उससे बढ़कर शत्रु खड़ा किया जिसे तुम ने मारा, तुमने नियमभंग और व्यवस्थाविरोध का सूत्रपात किया"।

अस्तु, यह समझ रखना चाहिए वीरत्व के लिये स्वार्थत्याग के अतिरिक्त आज्ञापालन की भी आवश्यकता है। सब गुणों में से यही एक ऐसा गुण है जिसे सम्पादन करना नव-युवकों को बहुत ज़हर लगता है। हम लोगों में मनमानी करने की इच्छा स्वाभाविक होती है और हम समझते हैं कि जो हम करते हैं वह सब से अच्छा है। जहां हमने थोड़ी बहुत जानकारी प्राप्त की हम अपने को और लोगों से बढ़ कर समझने लगते हैं और अभिमान के मद में चूर इतराए फिरते हैं। हमारा यह मोह बहुत दिनों तक प्रायः नहीं रहता और जिस समय वह दूर होता है हमें अपने ऊपर बड़ा दुःख होता है। अतः हमें पहले ही से यह समझ रखना चाहिए कि जो फूल तोड़ना चाहता है उसे पहले कांटे मिलते हैं, जो आज्ञा करना चाहता है उसे पहले आज्ञा मानने का अभ्यास करना पड़ता है। बड़ों के आ-

देश का जो बहुत से नवयुवक विरोध करते हैं उसका आधार बहुत तुच्छ होता है और अंत में उन्हें हार माननी पड़ती है। जैसे कि *नीति और धर्म में* वैसे विज्ञान और कला कौशल में बुद्धिमानी की बात यही है कि पहले हम धीर जिज्ञासु और विनीत विद्यार्थी के रूप में संतोष के साथ काम करें, फिर ज्ञान और अनुभव का संचय करके निश्चित बातों में शंका करने तथा ठीक न जँचनेवाले सिद्धांतों के तिरस्कार करने का अधिकार प्राप्त करें। जिस स्वाधीनता का मैंने ऊपर उल्लेख किया है उससे इस उचित और युक्तिसंगत अधीनता का कुछ विरोध नहीं है। जो सिपाही आज्ञा-भंग करता है उसे लोग स्वाधीन नहीं कहते बागी कहते हैं। प्रतिष्ठित नियम और मर्य्यादा का पालन करने ही से किसी मनुष्य की स्वाधीनता, उसकी इच्छा और प्रयत्न की स्वतंत्रता की हानि नहीं होती।

साहस वीरता का एक प्रधान अंग है। साहस से मेरा अभिप्राय केवल उस शारीरिक बल या बहादुरी से नहीं है जो बहुतों को जन्म से प्राप्त होती है बल्कि उस उच्च और शुद्ध वृत्ति से है जिसे नैतिक साहस या धर्मबल कहते हैं और जो हृदय की पवित्र उच्चता से संबंध रखती है। नित्य के व्यवहार में हमारे इस साहस की परीक्षा बराबर होती रहती है। समय पड़ने पर लोगों को सोहाने वाली बात का कहना जितना सुगम होता है उतना सत्य बात का कहना नहीं। इसी से एक नीतिज्ञ ने यहां तक कह डाला कि "सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्"।

इसी प्रकार प्रलोभन में आ जाना जितना सुगम होता है उतना उसका अवरोध करना नहीं। हम मौका पाने पर झट अपने पड़ोसी की हानि करके स्वयं लाभ उठाने का कारण ढूंढ़ निकालते हैं और लोगों से कहते फिरते हैं कि वह अकर्मण्य है, वह अपना काम काज सँभालना नहीं जानता, उसे अपना हानि-लाभ नहीं सूझता। अपने लोभ और अन्याय के लिये हम अपने को कभी नहीं धिक्कारते। भरत के ऐसे इस संसार में सब नहीं होते कि राजधानी से दूर केवल इस लिये जाकर पड़े रहें जिसमें बड़े भाई के लिये राजसिंहासन खाली रहे। कोई कार्य्य उचित है केवल इसी निमित्त उसके करने का धर्म-बल वा साहस इस संसार में बहुत कम देखा जाता है। दुःख में शक्ति, क्षोभ में आत्मनिग्रह, विपत्ति में धैर्य्य, संपद् में मिताचार धर्मबल के लक्षण हैं। 'बाबू त्रिवेनीसहाय देखेंगे तो क्या कहेंगे ? दुनिया देखेगी तो क्या कहेगी' इस बात का भय हमारे हाथों को दुर्बल और अत्याचार-पीड़ित प्राणियों की रक्षा के लिये, सत्य और औदार्य्य के पालन के लिये, असत्य और विडंबना के विनाश के लिये, उठने नहीं देता। 'अमुक महाशय देखेंगे तो क्या कहेंगे' इस भय से न जाने कितने ऐसे नव-युवकों का जीवन सत्यानाश हो जाता है जिनमें झूठे घमंडियों के बीच अपना निराला मार्ग निकालने की आत्मिक क्षमता नहीं होती। बुद्धिमान् और अनुभवी लोगों की बात न मानना मूर्खता है पर दुनियां के हँसने और भला बुरा कहने की बराबर चिंता करना

उससे भी बढ़कर मूर्खता है। लोगों का बहुत सा गुण और चमत्कार थोड़ी सी उचित आत्मिक दृढ़ता के अभाव से यों ही नष्ट जाता है। नित्य बहुत से ऐसे लोग चिता पर चढ़ते हैं जो इस कारण हीन दशा में पड़े रहे कि उनकी भीरुता ने उन्हें कोई कार्य्य आरंभ ही नहीं करने दिया, यदि वे लोग आरंभ करने पाते तो बहुत संभव था कि वे सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए बहुत कुछ नाम और यश कमाते तथा अपने उद्योगों से अपना और दूसरों का बहुत कुछ भला करते। बात यह है कि इस संसार में किसी करने योग्य काम को करने के लिये हमें कठिनाई और बाधा देख ठिठक कर पीछे न हटना चाहिए बल्कि जहां तक हो सके कूद कर आगे बढ़ना चाहिए। इसी आत्मिक दृढ़ता के बल से जो कठिनाई और असफलता के समय दूनी हो जाती है संसार में मनुष्य के ज्ञान और सुख की वृद्धि करनेवाले सुधार हुए हैं, बड़े बड़े आविष्कार हुए हैं तथा मनुष्य जाति उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हुई है, क्योंकि शुरू शुरू में प्रत्येक सुधार स्वभावतः लोगों की रुचि के प्रतिकूल होता है, उनके सुख चैन के भाव में बाधा डालता है और उनके चित्त में कठिनाई और असुविधा का खटका उत्पन्न करता है। जो सुधार पर ज़ोर देता है उसे चारों ओर का घोर विरोध सहते हुए, बिना किसी के कृतज्ञता-सूचक या उत्साह-वर्द्धक वाक्य के एकांत में चुपचाप काम करना पड़ता है।

जब वह अच्छी बातों का उपदेश करता है तब लोग उस पर पत्थर फेंकते हैं।

धर्म के हेतु प्राण देनेवाले महात्माओं को इसी आत्मिक दृढ़ता का बल और अवलंब था, इसी की गुप्त प्रेरणा से वे धन और मान का तिरस्कार करने में समर्थ हुए थे। इसी आत्मिक दृढ़ता के बल से उन्होंने कारागार और अग्नि की भीषण यंत्रणा सहन की पर उस बात का पक्ष न छोड़ा जिसे अधिकांश लोग मिथ्या और अनुचित समझते थे। समर क्षेत्र में जहाँ रणोत्साह से नस नस में रुधिर उमंग मारता है और पास ही सहस्रों को एक ही उद्देश्य से प्रेरित देख उत्तेजना बढ़ती है यश और कीर्त्ति प्राप्त करना उतना कठिन नहीं है। पर उसकी वीरता अत्यंत विकट है जो महीनों अत्याचार की ओर सांसत सह कर अपने ऐसे शत्रुओं के सम्मुख लाया जाता है जो उससे कहते हैं कि 'यदि तुम अपनी भूल को स्वीकार कर लो और अधिकारियों के मत के प्रतिकूल बातें छोड़ दो तो मुक्त कर दिए जाओ और फांसी से बचा दिए जाओ'। दो चार अनुकूल शब्द मुंह से निकाल देने ही से उसका छुटकारा हो सकता है। यही असली परीक्षा का समय है। इसमें जो मुँह से 'आह' तक न निकाल कर सब कुछ सहे वही सच्चा वीर है। यदि इस प्रकार का उच्च और उत्कृष्ट साहस नित्य प्रति के जीवन व्यवहार में दिखाया जाय तो संसार कितना

सुखमय और पवित्र हो जाय ! जिसे सत्य और न्याय से प्रेम होगा वह इस प्रकार का साहस दिखलावेगा । समाज के संस्कार के लिये जिस वस्तु की बहुत बड़ी आवश्यकता है वह आत्मिक बल है जो बुराई की छाया तक को पास नहीं फटकने देता, जो सब प्रकार के दंभ, पाखंड, और भ्रम को दूर फेंकता है, जो नम्रतापूर्वक महात्माओं के उपदेश और आदर्श पर चलने की सामर्थ्य प्रदान करता है, जो चित्त में पवित्रता, सच्चाई, उदारता और भ्रातृस्नेह की स्थापना करता है। क्या इस उच्च कोटि का आत्मोत्सर्ग और आत्म-तुष्टि असंभव है ? हां दुर्बल चित्त और स्वार्थियों के लिये अवश्य असंभव है जिन्होंने लड़कपन से कभी प्रलोभनों का शासन नहीं किया, जिनका आशय सदा नीच रहा, जिन्होंने कभी उच्च उद्देश्य की भावना नहीं की, जो समाज के कहने सुनने का ही सदैव ध्यान रखते हैं यह नहीं देखते कि उनकी आत्मा क्या कहती है, जो चिर अभ्यास के कारण संसार की तुच्छ वस्तुओं और वासनाओं से चित्त को हटा कर अपने विचारों को उन्नत करने में असमर्थ हैं, पर ऐसे लोगों के लिये असंभव नहीं है जो एक महान लक्ष्य की ओर अपनी सारी बुद्धि और बल लगाते हुए अग्रसर हो रहे हैं। जुआरियों, शराबियों, आलसियों, लंपटों, अश्रद्धालुओं, भूठों, घमंडियों, वेईमानों और विषयासक्तों के लिये तो अवश्य असंभव है । पर ऐसे लोगों के लिये जो महात्माओं के पथ पर चलते हैं,

जो सत्य का अनुसरण करते हैं, जो प्रलोभनों को दमन करते हैं, जो अपना कर्त्तव्य-पालन ईश्वर पर भरोसा करते हुए निःशंक भाव से करते हैं यह बात कठिन चाहे हो पर असंभव नहीं है।

विलायत में जार्ज स्टिफ़ेंसन नामक एक व्यक्ति ने देखा कि खान के भीतर काम करनेवालों के लिये एक लालटेन की बड़ी आवश्यकता है जिसके प्रकाश में लोग आराम के साथ काम करें। पर खानों के भीतर एक प्रकार की ज़हरीली हवा (गैस) होती है जिससे आग लगने का भय होता है। अतः लालटेन ऐसी होनी चाहिए थी जिसकी लपट से खान के भीतर ज़हरीली हवा न भभके। स्टिफ़ेंसन ने एक लालटेन तैयार की। पर उसे काम में लाने के पहले उसकी परीक्षा आवश्यक थी। पर ऐसी भयंकर परीक्षा करे कौन? अंत में अपने पुत्र और दो मित्रों को साथ ले कर स्वयं स्टिफ़ेंसन अपनी बनाई लालटेन की परीक्षा के लिये आधी रात को खान के मुहं पर पहुंचा। चारों आदमी धीरे धीरे खान में उतरे और एक ऐसे अंधेरे गड्ढे की ओर बढ़े जहां बाहर की हवा बिल्कुल नहीं पहुंचती थी और अत्यंत ज़हरीली दुंद निकल रही थी।। स्टिफ़ेंसन का एक साथी उस गड्ढे को देख कर लौटा और कहने लगा की जहां वहां जलती बत्ती पहुंची कि गैस भभक उठेगी, सारी खान में आग लग जायगी और चारों में से एक भी जीता न बचेगा। पर स्टिफ़ेंसन अपने संकल्प

से रत्ती भर भी विचलित न हुआ। एक हाथ में लालटेन ले कर वह बड़ी धीरता के साथ गड्ढे की ओर बढ़ा। उस समय यही जान पड़ता था कि वह मानो मृत्यु के मुख में जा रहा है पर उसकी आकृति से किसी प्रकार की व्यग्रता नहीं झलकती थी। उस गड्ढे के पास पहुंच कर चट उसने अपनी लालटेन वहां रक्खी और खड़ा हो कर परिणाम की प्रतीक्षा करने लगा। थोड़ी देर बत्ती भभकी, फिर झलमलाने लगी और बुझगई। इससे यह बात भली भांति सिद्ध हो गई कि उस लालटेन से खान में आग लगने की कोई आशंका नहीं है। यहां पर पाठकों के ध्यान देने की बात स्टिफ़ेंसन का आत्मिक बल है जिसके कारण वह अकेले एक महान उद्देश्य साधन के लिये एक भय के स्थान में कूद पड़ा।

आर्य्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद का आत्मिक बल भी ध्यान देने योग्य है। उनका आशय जैसा उच्च था वैसाही उनका परिश्रम भी असाधारण था। विलक्षण विवाद-पटुता और अद्भुत साहस के साथ उन्होंने उन बुराइयों का दिग्दर्शन कराया जो हिंदू धर्म की शक्ति का अपहरण कर रही हैं। उन्होंने पूर्ण निर्भीकता और सच्चाई के साथ समाज की प्रचलित विलासप्रियता, और भोगाडंबर का विरोध किया। उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह बहादुर स्वामी जी का बड़ा आदर सम्मान करते थे। एक दिन स्वामी जी दरबार में पहुंचे तो क्या देखते हैं कि एक वेश्या वहां बैठी हुई है।

महाराणा साहब स्वामी जी को लेने के लिये उठे। पर स्वामी जी तुरंत वहां से उलटे पाँव यह कहते हुए फिरे "जहां वेश्याओं को यह स्थान मिलता है वहां एक क्षण भी ठहरना उचित नहीं, ऐसे दरबार को दूर से नमस्कार!"। महाराणा साहब ने उस वेश्या को निकलवा दिया, सब कुछ किया पर स्वामी जी फिर लौट कर न गए। उन्होंने लोभी पंडों पुरोहितों के आचरण की घोर निंदा की, उनके स्वार्थमय व्यापार का खूब भंडा फोड़ा। स्वार्थियों ने उन्हें भांति भांति के प्रलोभन दिखाए, बड़ी बड़ी धमकियां दीं पर वे अपने पथ से विचलित न हुए। यदि वे चाहते तो लोगों की रुचि के अनुकूल चल कर उनकी हां में हां मिलाकर बड़े चैन के साथ मठधारी महंतों की तरह दिन बिताते, पर उन्होंने इस प्रकार बुराइयों पर परदा डालना, सत्य का अपघात करना उचित नहीं समझा। जिन लोगों के हित के लिये वे प्रयत्न करते थे उन्हीं से अपनी कटूक्तियों के कारण गालियां खा कर, अनेक प्रकार के अपमान सह कर, अंत में उन्होंने वह विष का घूंट पिया जिसे उनके खरेपन ने उनके लिये प्रस्तुत किया। स्वामी दयानंद की विद्वत्ता आदि के विषय में चाहे जो कुछ कहा जाय पर उनका उद्देश्य उच्च और दृढ़ था, उनमें चरित्रबल पूरा था। स्वामी दयानंद ने जो जो कठिनाइयां सहीं उसे समाज ने देखा, उनके बहुत से पक्षपाती हुए तथा साधुवाद देने के लिये बहुत से श्रद्धालु प्रस्तुत हुए। जो कुछ उन्होंने किया वह

संसार और समाज के सामने था इससे उन्हें सहारा देनेवाले और उनसे सहानुभूति रखनेवाले बहुत से मिल गए। पर इस संसार कानन में ऐसे बहुत से साधु महात्मा पड़े हैं जिन्होंने अपने को कभी किसी प्रकार प्रसिद्ध नहीं किया, जिन्होंने अपनी वाणी का विकाश कभी नहीं किया, जिन्होंने अपनी एकांतता परित्याग करके कभी अपनी चर्चा लोक में नहीं फैलाई, जिनका देवतुल्य श्रेष्ठ जीवन सदा अंतर्व्याप्त ही रहा और जिनके अन्तःकरण का सौंदर्य उसी प्रकार लोगों से छिपा रहा जैसे निर्जन वन में खिली हुई कमलिनी। जिनका जी चाहे वे रण-रक्त-रंजित विजयी योद्धाओं की प्रशंसा करें, तथा अपनी नीति द्वारा निर्बल जातियों के सुख और स्वातंत्र्य का अपहरण करनेवाले राजनीतिज्ञों को धन्य धन्य कहें पर जो सत्यप्रिय और ज्ञानार्थी हैं वे उसी आत्मिक बल का बखान करते हैं जो संसार के दुःख और झंझट को, निंदा और उपहास को, अभाव और दरिद्रता को कुछ नहीं समझता। यही आत्मिक बल संसार की कठिन कसौटी पर ठहर सकता है।

आज कल उन्नति और विद्याप्रचार के जितने साधन हैं उतने पहले समय में न थे। प्राचीन काल में न छापे की कलें थीं न स्थान स्थान पर बड़े बड़े पुस्तकालय थे, न सामयिक पत्र पत्रिकाएँ थीं, न डाक विभाग था, न वैज्ञानिक परीक्षालय थे, पर ऐसे ऐसे अध्यवसायी, मेधावी और प्रतिभाशाली

विद्वान होते थे जिनकी कृतियों को देख आज कल के लोगों को भी चकित होना पड़ता है। शारीरिक वीरता लोगों को तोप के मोहड़े के सामने ले जाकर खड़ा कर सकती है क्योंकि वे एक दूसरे की देखा देखी तथा प्रतिहिंसा, विजय और लूट की आशा से उत्तेजित रहते हैं। पर भूख प्यास का वेग, शीत घाम की व्यथा, उद्धतों का कुव्यवहार, धनियों का अपमान सहने के लिये एक और ही उच्च प्रकार की प्रेरणा की आवश्यकता होती है। ज्ञान के गुप्त रहस्यों का उद्घाटन और आत्मा की उन्नति करने के लिये एकांत में, अकेले और अज्ञातभाव से परिश्रम करना पड़ता है। जिस समय लिखने पढ़ने की सामग्रियों और पुस्तकों का अभाव था, विद्यार्थी गुरकुलों में कुशासन पर सोतेथे वन वन लकड़ी चुनते और कंद मूल उखाड़ते थे, उस समय भी ऐसे ऐसे प्रकांड आचार्य्य हो गए जिन्होंने ज्ञान की ज्योति को निरंतर प्रज्वलित रक्खा और भावी संतति की ओर बढ़ाया। आत्म-संस्कार में रत युवा पुरुष जितनी प्रशंसा ऐसे लोगों के धर्म-बल की करेंगे उतनी प्रशंसा उन योद्धाओं के बाहुबल की नहीं जो तलवार और भाले लेकर विजय और कीर्त्ति की लिप्सा से संग्रामभूमि में अग्रसर हुए हैं। इसी एक धर्मबल के सहारे संसार के बड़े बड़े महात्माओं ने ज्ञान की खोज में अनेक आपत्तियां उठाई और अनेक संकट सहे। लोग कह सकते हैं कि जो काम उन्होंने किए उनका महत्त्व उन्हें अवश्य

विदित था, पर महत्त्व विदित होने पर भी यदि उनमें ज्ञान की निःस्वार्थ चाह न होती तो वे इस वीरता के साथ और इस अटल भाव से अपने व्रत का पालन करते हुए अपने विकट और कंटकमय मार्ग में अग्रसर न हो सकते।

जब कि उस समय के लोग इतना कर गए तब क्या आज कल वे लोग सब कुछ सुबीता रहते हुए भी अपना जीवन-निर्वाह उसी योग्यता के साथ नहीं कर सकते? क्या आज कल के लोग उन प्राचीनों से भी गये बीते बनना चाहते हैं जिनके पास उन्नति के साधन इतने अल्प थे? एक बात जो आत्मा में भली भांति अंकित कर रखने की है वह यह है कि मनुष्य का जीवन केवल एक ही गुण से उच्च और महान् हो सकता है। यह गुण सत्यबल है। सत्यबल योग से प्राप्त होता है। सत्यबल धर्मबल ही का नाम है। यदि तुम यह समझते हो कि पोथियों, पांडित्यपूर्ण शास्त्रार्थों, तथा तर्क वितर्क से ही तुम सब कुछ कर लोगे तो यह तुम्हारी बड़ी भारी भूल है। पुस्तकें तुम्हें जागृत और उत्तेजित कर सकती हैं तथा उँगलियों का इशारा कर सकती हैं कि इधर उधर न भटको पर वे तुम्हें पथ पर अग्रसर नहीं कर सकतीं। पथ पर अग्रसर तुम्हारे पैर ही करेंगे। यह करने धरने की बात है केवल जानने की बात नहीं है। उँगलियों के इशारे मिलते रहें तो अच्छी बात है, पर यदि उनके बिना काम चले तो बहुत ही अच्छी बात है, क्योंकि यह निश्चय समझो कि जीवन-यात्रा में थोड़ी दूर आगे चल कर

तुम्हें फिर उजाड़ मैदान और दलदल मिलेंगे या यदि तुम्हें पग पग पर दूसरों ही के इशारे पर चलने का अभ्यास रहेगा तो किं-कर्त्तव्य-विमूढ़ हो कर फटफटाते रह जाओगे। तुम्हारा पथप्रदर्शक तुम्हारी आत्मा में होना चाहिए अन्यथा तुम्हें उद्धार के लिये ऐसों का मुँह ताकना पड़ेगा जिनकी दशा तुमसे कदाचित ही कुछ अच्छी होगी। अतः कमर कस कर उठो और इस बात को प्रमाणित कर दो कि जिस प्रकार तुम्हें चलना रहता है तो चलते हो, कूदना रहता है तो कूदते हो, उछलना रहना रहता है तो उछलते हो इसी प्रकार तुम श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने के लिये प्रत्येक अवसर पर श्रेष्ठ आचरण करते हो। आत्म-बल का सम्पादन करो, हृदय और बुद्धि को परिष्कृत करो, और अपना संकल्प दृढ़ रक्खो। तुम दुनियां में रह कर भी बिल्कुल दुनियादारी ही का व्यवहार न करो, इंद्रियों से कार्य्य लेते हुए भी इंद्रियासक्त न हो जाओ बल्कि अपना संकल्प उच्च औरआशय गंभीर रक्खो। जब तुम भांति भांति के प्रलोभनों वा आपदाओं के बीच पड़ोगे अथवा विरोधियों से घिर जाओगे तब तुम्हें अपनी आत्मा ही की शरण रहेगी, अपने दृढ़ संकल्प ही का सहारा रहेगा। ऐसे अवसरों पर तुम तिल भर भी न डिगना। जब सिपाही गढ़ के द्वार में घुसता है तो वह या तो बराबर आगे बढ़ता जाता है और विजय प्राप्त करता है अथवा पीठ दिखाता वा मारा जाता है। जब तक समुद्र या नदी का बाँध मज़बूत रहता है

तब तक उसके पीछे की भूमि रक्षित रहती है पर जहां उसमें कोई छेद हुआ कि जल वेग के साथ उसे तोड़ फोड़ देता है और बढ़ कर सब कुछ सत्यानाश कर देता है। पवित्रता और शुद्धता का आदर्श सदैव अपने सामने रक्खो जिसमें तुम्हारे संकल्प और भाव, आत्मबल के सहारे उसके निकट तक पहुंचें। इस पृथ्वी पर मनुष्य या तो इंद्रियों का सुख-भोगे अथवा आत्मा की शांति प्राप्त करे। यदि आत्मा की शांति प्राप्त करनी है यदि अपने मानव-जीवन को देव-जीवन बनाना है, यदि इस मर्त्यलोक में निर्द्वंद्व भाव से रहना है तो इस भव-कानन के कुफल न चखो। बाहरी सौंदर्य्य से नेत्रों को आनंद मिल सकता है पर काल की गति के साथ यह क्षणिक आनंद भी देखते ही देखते बदल जाता है। द्रव्य ही परिवर्त्तनशील है, आत्मा का आदर्श-भाव, जिसे सौंदर्य्य और उत्तमता की अगोचर अवस्था कह सकते हैं, लौकिक से परे एक दिव्य ज्योतिर्मय सृष्टि से संबंध रखता है। क्या इस आदर्श-भाव के सहारे तुम ऊंचे उड़ना चाहते हो? यदि चाहते हो तो पार्थिव को छोड़ो और इस क्षुद्र अंधकारमय जीवन से निकल कर आदर्शभावमय राज्य में प्रवेश करो। वहीं परमात्मा का वह रूप दिखाई पड़ेगा जिसका जीवात्मा एक अंश है। उस दिव्य रूप में जीवात्मा पूर्ण, शुद्ध, बुद्ध और नित्य देख पड़ेगा जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो, नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥

अस्तु हमें चाहिए कि हम विषयादि में नितांत लिप्त न हो कर शुद्ध आत्मा की शांति का सुख भोगें क्योंकि—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया।
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्।
व्रजंतः स्वातंत्र्यादतुल परितापाय मनसः।
स्वयं त्यक्त्वा ह्येते शमसुखमनंतं विदधति॥

चाहे हम कितने ही दिनों तक क्यों न रहें विषयादि एक दिन अवश्य जाने वाले हैं इसलिये चाहे हम स्वयं उनका त्याग करें अथवा वे हमारा त्याग करें उनके हमारे वियोग में किसी प्रकार का संशय नहीं। पर संसारी मनुष्य फिर भी स्वयं उनका परित्याग नहीं करते। जब आप ही आप विषयादि हमारा त्याग करते हैं तब हमें अत्यंत दुःख होता है पर जब हम स्वयं उनका परित्याग कर देंगे तब अनंत शांति सुख का लाभ कर सकेंगे।

युवा पुरुषों के लिये हम यहां परिश्रम के महत्त्व की लंबी चौड़ी व्याख्या की आवश्यकता नहीं समझते। जो परिश्रम

करने के लिये उद्यत नहीं वह आत्मसंस्कार में भला क्या प्रवृत्त होगा ? आलसी और अकर्मण्य को अपना हृदय परिष्कृत करने और बुद्धि विवर्द्धित करने की लालसा ही न होगी। पर अध्यवसाय की आवश्यकता की ओर मैं विशेष ध्यान दिलाना चाहता हूं। मैंने ऐसे बहुत से आरंभशूर युवा पुरुषों को देखा है जिन्होंने बड़ी धूम और तपाक के साथ कार्य्य आरंभ किया, बड़ी बड़ी पुस्तकें इकट्ठी कीं, अध्ययन की प्रणाली स्थिर की पर जहां उन्होंने दो चार पृष्ठ पढ़े, या दो चार सवाल लगाए कि उनके सामने भारी कठिनता दिखाई दी, फिर तो पुस्तकें किनारे फेंक सारी पढ़ाई लिखाई उन्होंने यह कह कर छोड़ दी कि 'यह सब हमारे किए न होगा'। आरंभशूर पुरुषों को थोड़ा ही आगे चल कर यह मालूम होने लगता है कि जो कार्य उन्होंने ठाना है वह उनकी शक्ति और सामर्थ्य के बाहर है। थोड़ा सोचिए तो कि यह कैसी बात है ? उस सेनापति को लोग क्या करेंगे जिसने शत्रु के दुर्ग को तोड़ने का सकल्प करके उसका नक़्शा तैयार किया, जो आक्रमण करने के लिये सिपाहियों को लेकर आगे बढ़ा पर एक छोटी सी खाईं देख कर लौट आया। आत्मसंस्काराभिलाषी पुरुष में अध्यवसाय अवश्य चाहिए। उसे कठिनाइयां पड़ेंगी, एक दो नहीं सैकड़ों, पर ज्यों ज्यों वह आगे बढ़ता जायगा त्यों त्यों उसकी एक एक कठिनाई सुगम होती जायगी और बराबर कृतकार्य्य होते होते उसे पूरी आशा और हिम्मत

बँध जायगी। कठिनाइयां तो अवश्य पड़ेंगी क्योंकि यदि कठिनाइयां न हों तो फिर अभ्यास और परिश्रम का महत्त्व ही क्या? हम ऐसे वीर सेनानायक की प्रशंसा नहीं करते जो किसी अरक्षित देश में विना किसी प्रकार की लड़ाई भिड़ाई के प्रवेश करता है। ज्ञान का आधा महत्त्व और सौंदर्य्य नष्ट हो जाय यदि वह विना कठिन और अखंड प्रयत्न के प्राप्त हो। पुरुषार्थियों के लिये यथार्थ आनंद प्रयत्न में है, फल में नहीं। प्रयत्न ही आत्मा की शिक्षा और चरित्र की उन्नति का विधान करता है। प्रयत्न ही मनुष्य को धैर्य्य और शांति रखने तथा कर्त्तव्य-स्थिर करने की शिक्षा देता है। प्रयत्न में मनुष्य को कठिनाई अवश्य पड़ती है, पर कोई कठिनाई ऐसी नहीं जो दूर न की जा सके। किसी धीर और पुरुषार्थी के हाथ में एक घन और टाँकी तथा कुछ समय दे दीजिए वह बड़ी बड़ी चट्टानों को उखाड़ कर फेंक देगा। इसी प्रकार आत्मशिक्षाभिलाषी पुरुष अवसर और साधन पाकर जिस काम को करना चाहेगा कर डालेगा। प्रयत्न और परिश्रम अच्छे गुण हैं, पर अध्यवसाय सब से बढ़ कर है। कोई मनुष्य परिश्रमी होकर भी असफलता देख शीघ्र हतोत्साह हो सकता है। उसका जी यह देख कर टूट सकता है कि वह अपने काम में बहुत कम आगे बढ़ा है। युवा पुरुष को जिस गुण की बड़ी भारी आवश्यकता है वह अध्यवसाय है, इसके विना वह कुछ नहीं कर सकता। मान लीजिए कि वह कोई काम करता चला

जा रहा है इसी बीच में उसके मन में आया कि 'जितना समय नित्य मैं इस काम में लगाता हूं उतने से क्या होगा, काम बहुत है'। अब क्या उसे उस काम को बीच ही में छोड़ देना चाहिए। नहीं कदापि नहीं, उसे अध्यवसायपूर्वक काम करते चलना चाहिए। उसे किसी बात से हतोत्साह न होना चाहिए, उसे हार मान कर बैठ न रहना चाहिए। यदि तुम्हें प्रति दिन एक घंटा ही मिलता है तो उसी एक घंटे का पूरा उपयोग करो। यदि साहित्य की ओर तुम्हारी रुचि नहीं है तो इतिहास पढ़ो, विज्ञान सीखो, दर्शन में अभ्यास करो, कला कौशल में निपुणता प्राप्त करो। तात्पर्य्य यह कि अध्यवसाय न छोड़ो। तुम्हें पहले यह सीखना चाहिए कि किस तरह सीखना होता है। जिस तरह बच्चा जब पैरों के बल चलने का अभ्यास करना सीखने लगता है तब कई बार गिरता पड़ता है उसी प्रकार तुम्हें भी गिरना पड़ना पड़ेगा, पर उद्योग न छोड़ना।

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः।
प्रारभ्य विघ्न-विहता विरमंति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः।
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजति॥

जब वसुदेव जी अंधेरी भयानक रात में बालक श्री कृष्ण को लिए पार जाने के निमित्त बढ़ी हुई जमुना के किनारे पहुंचे तब वे ठिठक कर खड़े हो गए, पार होने का कोई उद्योग उनसे न बन पड़ा। जब देवबल से जमुना का जल कम हुआ तब वे

नदी में हल कर पार हुए। पर साधारण अवस्थाओं में युवा पुरुषों के लिये इस प्रकार ठिठक कर खड़ा हो जाना ठीक नहीं। उन्हें चटपट कमर कस कर नदी पार करने के उद्योग में लग जाना चाहिए। संस्कृत-साहित्य की ओर यूरप को आकर्षित करने वाले, एशियाटिक सोसाइटी के संस्थापक सर विलियम जोंस का यह सिद्धांत था कि चाहे कितनी ही कठिनाइयां पड़ें जिस कार्य्य में हाथ डाले उसे विना पूरा किए न छोड़े। इसी से उन्होंने अपने अल्प जीवन-काल में आठ भाषाओं में तो पूरी और आठ भाषाओं में उससे कुछ कम योग्यता प्राप्त की। उनके अतिरिक्त वे बारह और भाषाओं की भी थोड़ी बहुत जानकारी रखते थे। यह सब अध्यवसाय के अमोघ बल से हुआ। इसी प्रकार यहां पं० ईश्वरचंद्र विद्यासागर, जस्टिस महादेव गोविंद रानाडे, अध्यापक हरिनाथ दे, रमेशचंद्रदत्त, डा० राजेंद्रलाल मित्र, आदि बहुत से लोगों के वृत्तांत दिए जा सकते हैं पर वे इतने प्रसिद्ध हैं कि उनके नाम के देने ही से काम निकल जायगा। ये लोग पुकार पुकार कर इस भारी बात की घोषणा कर रहे हैं कि अध्यवसाय के विना कुछ भी नहीं हो सकता। यही राजनीतिज्ञ की बुद्धि है, विजयी का अस्त्र है, विद्वान् का बल है। प्रसिद्ध संस्कृत वैयाकरण और ग्रंथकार वोपदेव के विषय में एक आख्यान प्रसिद्ध है। ऐसा कहा जाता है कि जब वे गुरु के समीप विद्याध्ययन के लिये बैठाए गए तब उनकी बुद्धि अत्यंत मोटी थी। गुरु जी जो कुछ समझाते थे वह उन्हें

समझ ही में न आता था। एक दिन उन्होंने अपने मन में निश्चय कर लिया कि अब मुझे पढ़ना न आवेगा और वे घर से निकल पड़े। एक दिन वे घूमते घूमते एक सरोवर के तट पर पहुँचे जिसके चारों ओर पत्थर का घाट बँधा था। वहाँ बैठे ही थे कि इतने में एक स्त्री घड़ा लेकर आई और उसे घाट पर रख कर नहाने लगी। थोड़ी देर में वह नहा धोकर और घड़े में पानी ले कर चली गई। वोपदेव ने देखा जहाँ उस स्त्री ने घड़ा रक्खा था वहाँ पत्थर पर एक गड्ढा पड़ गया है। यह देख कर वोपदेव ने मनमें सोचा कि जब पत्थर ऐसी कठोर वस्तु मिट्टी के घड़े की रगड़ से घिस जाती है तब क्या लगातार परिश्रम करने से मेरी स्थूल बुद्धि भी घिस कर सूक्ष्म न हो जायगी। इस विचार के उठते ही वोपदेव वहां से चल पड़े और फिर अपने गुरु जी के पास आकर तन मन से विद्याध्ययन में लग गए। फिर तो वोपदेव ऐसे भारी पंडित हुए और उन्होंने ऐसे ऐसे ग्रंथ बनाए कि उनका नाम सारे भारतवर्ष में फैल गया। बंग देश में इन्हीं वोपदेव के व्याकरण को पढ़ कर लोग पंडित होते हैं।

ईश्वरचंद्र विद्यासागर जिस समय अपने ग्राम की शिक्षा समाप्त करके कलकत्ते के संस्कृत कालेज में भरती हुए उस समय उन्होंने अध्यवसाय और परिश्रम की पराकाष्ठा कर दी। संस्कृत व्याकरण के साथ उन्होंने स्कूल में अंगरेजी पढ़ना भी आरंभ किया। ईश्वरचंद्र के पिता अत्यंत साधारण वित्त के मनुष्य थे

इससे वे पुत्र की विशेष सहायता न कर सकते थे। ईश्वरचंद्र दिन भर तो कालिज और स्कूल में संस्कृत और अंगरेज़ी का पाठ सुनाते और लेते, रात को रसोई बना कर पढ़ने बैठते और दो दो बजे रात तक बैठे रह जाते। वे कभी कभी एक दिन का बनाया दो दो दिन खाते। उन दिनों उनका यह हाल था कि वे सवेरे स्नान करके बाज़ार जाते और तरकारी इत्यादि लेकर डेरे पर लौट आते। फिर अपने हाथों ही से सिल पर हल्दी, मसाला पीसते और आग जलाते थे। उनके बासे में चार आदमी भोजन करते। सब के लिये वे भात दाल, मछली तरकारी आदि बनाते। फिर सब के भोजन कर चुकने पर चौका साफ़ करते और बरतन मांजते थे। सचमुच बासन मांजते और लकड़ी चीरते चीरते उनके हाथ खुरखुरे हो गए थे और दो एक नख घिस गए थे। इस अपूर्व परिश्रम का विद्यासगर को अपूर्व फल मिला। थोड़े ही दिनों में वे व्याकरण, साहित्य, स्मृति, अलंकार आदि में पारंगत हो गए और उन्होंने उच्च छात्रवृत्ति प्राप्त की। धीरे धीरे वे विद्यासागर हो गए और उनकी उज्वल कीर्त्ति सारे भारतवर्ष में फैल गई।

अध्ययनाय मानसिक शिक्षा का एक बड़ा भारी साधन है। मन को व्यर्थ इधर उधर बहँकने से रोकने के लिये, कल्पना को अनुपयोगी विषयों में लीन होने से बचाने के लिये मेरी समझ में इससे बढ़कर और कोई उपाय नहीं है कि तर्क विद्या की खरी शैली का अभ्यास किया जाय अथवा प्राचीन और

अर्वाचीन भाषाओं का पूर्ण अध्ययन किया जाय। अध्यवसाय नैतिक शिक्षा का भी साधन है। जब बौद्ध भिक्षुकों को मार के प्रलोभनों का बहुत भय होता है तब वे अपने धर्मकार्य्यों में दूनी तत्परता के साथ रत हो जाते हैं। यदि प्रत्येक घड़ी के लिये कोई न कोई काम रहे तो क्षुद्र ईर्षा, मात्सर्य्य, अपवित्र वासना, आदि के लिये समय न मिले, ऐसे खोटे उद्योगों के लिये अवकाश ही न रहे जिनके द्वारा खाली बैठे हुए निकम्मे लोग अपना सत्यानाश करते हैं। अंगरेज़ी कहावत है कि शैतान ऐसे हाथों ही को खोटे कर्म्मों की ओर उत्तेजित करता है जिन में कुछ काम धंधा नहीं। अध्यवसाय के महत्त्व को समझते हुए भी युवा पुरुष को चाहिए कि वह इस बात में भी आवश्यकता से अधिक न बढ़ जाय। बहुत से युवा पुरुषों के लिये तो इस चेतावनी की कोई आवश्यकता ही नहीं क्योंकि विरले ही मनुष्यों को परिश्रम का अध्यवसाय इतना प्रिय होता है। पर कभी कभी कोई उत्साही छात्र ज्ञान-पिपासा के इतना वशीभूत हो जाता है कि वह उतना समय व्यर्थ नष्ट हुआ समझता है जितना पुस्तकों के अध्ययन में नहीं बीतता। इसी विचार से मैं युवा पुरुषों में एक और गुण का होना आवश्यक समझता हूं जिसे संयम या मिताचरण कहते हैं। किसी बात में अति कभी न करनी चाहिए। यह वाक्य सदा ध्यान में रखना चाहिए "अति सर्वत्र वर्जयेत्"। हर एक बात की हद होती है। जिस प्रकार राजाओं को नए नए देशों को जीतकर राज्य में मिलाने

को धुन हो जाती है उसी प्रकार किसी किसी विद्या-व्यसनी को एक शास्त्र से दूसरे शास्त्र, एक विद्या से दूसरी विद्या पर अधिकार प्राप्त करने की धुन हो जाती है। वह कभी इतिहास पढते पढ़ते दर्शनों की ओर झुकता है, कभी संस्कृत प्राकृत में प्रवीण हो कर अरबी फ़ारसी सीखने लगता है, रसायन और विज्ञान में पारंगत होकर भूगर्भ विद्या, और वनस्पति विद्या में परिश्रम करता है। सच्चे जिज्ञासु और विद्वान् का यही लक्षण है। पर उसे इस बात से भी सावधान रहना चाहिए कि अत्यंत अधिक परिश्रम से कहीं वह अस्वस्थ न हो जाय और किसी काम के करने लायक़ ही न रहे। अतः हे युवा पुरुषो, तुम्हें चाहिए कि तुम अति न करो। तुम्हें काम की भी उसी प्रकार अति न करनी चाहिए जिस प्रकार आराम की। जितना समय तुम्हारे हाथ में हो उसे अच्छी तरह सोच समझ लो और जितना तुम उसके बीच कर सकते हो उससे अधिक के लिये प्रयत्न न करो। मैं पहले ही बतला चुका हूं कि अपने समय और शक्ति का क्रम और व्यवस्था पूर्वक उपयोग करने से तुम कितने बड़े बड़े काम कर सकते हो। इस ढंग से तुम जितना कर सको उससे संतोष करो, अपने शरीर और मस्तिष्क के पुरज़ों से इतना अधिक काम न लो जितना वे स्वस्थतापूर्वक न कर सकें। यदि तुम शरीर वा मस्तिष्क पर बहुत अधिक बोझा डालोगे, उसे बहुत अधिक झटका दोगे तो वह तड़ से उखड़ जायगा। मैंने बहुत से युवा पुरुषों को देखा है जो एक बारगी

बहुत अधिक काम के कारण चक्कर खाते हुए सिर में भींगी रुमाल लपेटते हैं, थके हुए मन में फुरती लाने के लिये दम पर दम गरमा गरम चाय पीते हैं तथा इसी प्रकार के अनेक और उपाय करते हैं। यह अत्यंत हानिकारक है, यह भारी पागल-पन है। इससे भांति भांति के रोग लग जाते हैं, और शरीर उखड़ जाता है। मैंने ऐसे बहुत से लोगों को देखा है जो पढ़ने में अति करने के कारण अकाल ही काल के गाल में गए हैं। यदि वे अपने समय और श्रम का संयमपूर्वक उचित विभाग करते तो अपने जीवन से हाथ न धोते। संयम और व्यवस्था इन दो बातों से बड़ी रक्षा रहती है। युवा पुरुष को चाहिए कि वह अपने उद्देश्यों को परिमित रक्खे और अपने कार्य्यों को नियमित करे। यदि मन को नियत समय पर एक एक विषय की ओर लगाया जाय तो वह बहुत कुछ कर सकता है। पर यदि उसे लगातार एक ही ओर लगा कर उस पर एक ही समय में बहुत सा बोझ डाल दिया जायगा तो अंत में कुछ भी न हो सकेगा। लोगों की मृत्यु असंयम ही से होती है। नियम-पूर्वक कार्य्य करने से कोई नहीं मरता, बल्कि इतिहास और जीवनचरित इस बात के साक्षी हैं कि काम करने से मनुष्य दीर्घायु होता है। पड़ी पड़ी मुर्चा खाने से वस्तु जितनी जल्दी नष्ट होती है उतनी व्यवहार में आने से नहीं। बेंजमिन फ्रैंकलिन नामक एक असाधारण उद्योगी मनुष्य हो गया है। उसकी दिनचर्य्या इस प्रकार थी—

प्रातः काल (प्रश्न—आज कौन-सा अच्छा काम मुझे करना है ?)	५ बजे से ७ बजे तक	उठना, हाथ मुँह धोकर नित्य क्रिया करना। दिन भर के काम का ढंग सोचना और निश्चित करना। अध्ययन करना। जलपान।
	८ बजे से ११ बजे तक	काम
दोपहर	१२ बजे से १ तक	पढ़ना, हिसाब किताब देखना, भोजन करना।
तीसरा पहर	२ बजे से ५ तक	काम
सध्या	६ बजे से ६ बजे तक	चीज़ों को ठिकाने रखना भोजन करना, संगीत वार्तालाप तथा और मनोविनोद। दिन भर के काम का लेखा।
रात	१० बजे से ४ बजे तक	सोना

मैं पाठकों से इस दिनचर्या का पूरा अनुकरण करने के लिये नहीं कहता, मेरा अभिप्राय केवल नियम का महत्त्व दिखाने का है। प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन की स्थिति के अनुसार अपने समय को बाँटना चाहिए। एक बात और है। मेरी समझ में फ्रेंकिनल की इस दिनचर्या में समय का

उतना ध्यान नहीं रक्खा गया है। सोने के लिये केवल ६ घंटे का समय काफ़ी नहीं है। पर इस विषय पर विशेष मैं आगे चलकर कहूंगा। यहां पर मैं केवल संयम रखने अर्थात् किसी बात में अति न करने का आग्रह करना चाहता हूं और नियम का महत्त्व समझाना चाहता हूं जिसके विना संयम संभव नहीं। स्काटलैंड का कवि राबर्ट निकल पांच बजे तड़के उठता था और सीधे नदी के किनारे चला जाता था। वहां जाकर वह सात बजे तक लिखा करता था। सात बजे वह काम पर जाता था। नौ बजे रात को जब उसका काम समाप्त हो जाता था, वह पढ़ने बैठता था और कभी कभी पढ़ते पढ़ते सवेरा कर देता था। इस असंयम का फल यह हुआ कि वह नवयुवक कवि थोड़े ही दिनों में अपने जीवन से हाथ धो बैठा। और इसके विरुद्ध बंगभाषा के प्रसिद्ध ग्रंथकार बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय दिन भर में तीन चार घंटे नियमित रूप से लिखने का काम करते थे। ऐसे अनेक बड़े बड़े ग्रंथकार होगए हैं जो प्रातःकाल नियमपूर्वक तीन चार घंटे काम करके अनेक बड़े बड़े ग्रंथों के रचने में समर्थ हुए। प्रसिद्ध अंगरेज़ी उपन्यास लेखक स्काट अपनी समृद्धि के दिनों में, जब कि उसकी प्रतिभा का पूर्ण विकाश था, केवल प्रातःकाल का समय साहित्यसेवा में लगाता था। पर पिछले सेवे में जब उस पर ऋण बहुत अधिक चढ़ गया तब उसने रात रात और दिन दिन भर मिहनत की और पांच वर्ष में ६३००० पाउंड (९४५००० रु०) का ऋण

चुका दिया। फल यह हुआ कि उसका मस्तिष्क विकृत हो गया और वह थोड़े ही दिनों में मृत्यु को प्राप्त हुआ। इससे आत्मशिक्षार्थी को संयम से चलना चाहिए। संयम सोने की लगाम है।

जिस प्रकार युवक को काम में अति न करनी चाहिए उसी प्रकार उसे आमोद में भी अति न करनी चाहिए। उसे दोनों पलड़ों को बराबर रखना चाहिए, किसी को झुकने न देना चाहिए। काम करने वाले के लिये आमोद प्रमोद भी बहुत ही आवश्यक है। उसे मनोरंजन के लिये कुछ समय अवश्य रखना चाहिए, नहीं तो उसकी सारी मनोवृत्तियां मंद पड़ जांयगी और उसका शरीर रोग के हवाले होगा। बड़े काम करनेवालों को सामान्य बातों में भी आनंद प्राप्त करने से लज्जित न होना चाहिए। जिन बातों से स्वभावतः साधारण लोगों का जी बहलता है उन बातों से वे भी अपना जी बहला सकते हैं। यह नहीं कि जो बड़ी बड़ी लड़ाइयों को जीतता हो, राजनीति द्वारा बड़े बड़े राज्यों का परिचालन करता हो उसे बालकों की क्रीड़ा से कुछ आनंद ही न मिले। फ्रांस के बादशाह चौथे हेनरी के पास स्पेन का एक राजदूत रहता था। बादशाह एक दिन अपने एक बच्चे को पीठ पर सवार कराकर घुटनों केबल चल रहे थे। बच्चा प्रसन्न हो हो कर चाबुक मारता और एंड़ लगाता था। राजदूत ने यह देख लिया। बादशाह ने राजदूत से पूछा "तुम्हारे बाल बच्चे हैं?" राजदूत ने कहा "हां हैं"

बादशाह ने कहा-" तब ठीक है। ज़रा मैं इस कमरे में एक चक्कर और लगा लूँ"। एक धुरंधर राजनीतिज्ञ का कथन है " मैंने कई बार चाहा कि उन बातों को छोड़ दूं जो लड़कपन की आदतें कहलाती हैं, पर थोड़ा सोचने पर मुझे ध्यान हुआ कि यह मेरी बड़ी भारी मूर्खता होगी। मुझे परमात्मा का यह बड़ा भारी प्रसाद समझना चाहिए कि मुझे हर एक बात में आनंद मिलता है, मुझे गेंद उछालने में भी आनंद आता है और चीन के सम्राट के साथ पत्र-व्यवहार करने में भी"। कार्य्य को ईमानदारी के साथ पूरा करने के लिये विश्राम और आमोद आवश्यक है। थकी माँदी देह और ढीली नसें मस्तिष्क से बदला चुकाती हैं क्योंकि हमारी शारीरिक और मानसिक शक्तियों का संबंध बहुत घनिष्ट है, तन और मन का नाता बड़ा गहरा है। विश्राम या आमोद अत्यंत आवश्यक है पर हमें उसका व्यसन न हो जाना चाहिए। संयमी पुरुष किसी बात में अति नहीं करेगा। वह जीवन में बड़े हिसाब से चलेगा। वह संकल्प के संयम का भी ध्यान रक्खेगा। बहुत बढ़ कर मन न दौड़ावेगा। वह अपनी आशाओं को परिमित करने और अपने हौसलों को रोकने का भी प्रयत्न करेगा। यदि उसमें कुछ सार है तो वह थोड़े लाभ से भी संतुष्ट होगा। वह बरस दिन की राह छ महीने में चलकर अपने को भय और आपत्ति में न डालेगा। युवा पुरुष जब पहले पहल जीवन के कार्य्यक्षेत्र में आते हैं तब वे बड़ी बातों का मनोहर स्वप्न

देखते हैं, बड़े बड़े हवाई महल उठाते हैं जो थोड़े दिन पीछे हवा हो जाते हैं और चित्त में पछतावा ही रह जाता है। जीवन का व्यापार हँसी खेल नहीं है। यह न समझो कि बाज़ी सदा तुम्हारे ही हाथ में रहेगी, तुम्हारी निपुणता और चतुराई के कारण जीत तुम्हारी ही होगी। यह समझ रक्खो कि संयोग बड़ा प्रबल है। जिस समय तुम समझते हो कि सारी बाज़ी तुम्हारे हाथ में है उसी समय बाज़ी उलट जाती है और तुम मुंह ताकते रह जाते हो। इससे अपनी आशाओं को परिमित रक्खो, अपने मन को आकाश पर मत चढ़ाओ। धीरता, शांति और उद्देश्य की गंभीरता सच्ची बुद्धिमानी के लक्षण हैं। महाराज रणजीत सिंह के विषय में कहा जाता है कि लड़ाई के पहले वे बहुत उद्विग्न और चंचल दिखाई पड़ते थे पर ज्यों ही लड़ाई आरंभ हो जाती थी तो वे बहुत ही धीर और गंभीर भाव धारण कर लेते थे। जीवन के संग्राम में भी उसी धीरता के साथ चलो, यदि तुम विजय न भी प्राप्त करोगे तो भी तुम अपना मान न खोओगे। ज़रदुश्त का वचन है कि धीर और संयमी मनुष्यों पर कृपा करने में देवता बड़ी जल्दी करते हैं"। यह भी सच है कि जो मनुष्य थोड़े की आशा रखता है वह भाग्य से बहुत पाता है।

जिस प्रकार मन को बहुत बढ़ाना ठीक नहीं उसी प्रकार उद्देश्य और प्रयत्न को भी बहुत बढ़ाना अच्छा नहीं। न तो एक साथ बहुत बड़ी बड़ी आशाएँ करो और न बहुत बड़ी

बड़ी बातों के लिये प्रयत्न करो। पहले तुम अपनी सामर्थ्य का ठीक ठीक अंदाज़ा करो और फिर ऐसा काम हाथ में लो जो तुम्हारी शक्ति के बाहर न हो। असफलता वही निंदित है जो एकबारगी बहुत अधिक मन बढ़ाने से होती है। वामन होकर चंद्रमा छूने के लिये हाथ बढ़ाना लोक में उपहासजनक ही होता है। जो बैलगाड़ी हांक सकता है वह यदि सूर्य्य का रथ हांकने चले तो उसकी असफलता पर ताली पीटने के सिवा और लोग क्या करेंगे? गिरधर राय ने ठीक कहा है।

> बीती ताहि बिसारि दे आगे की सुधि लेय।
> जो बनिआवे सहज में ताही में चित देय॥
> ताही में चित देय बात जोई बनि आवै।
> दुर्जन हँसै न कोय चित्त में खेद न पावै॥

नाटक के एक अभिनय में बासवेल (Boswell) नामक ग्रंथकार ने गाय के रँभाने की ऐसी साफ़ नक़ल की कि दर्शकों ने प्रसन्न होकर बार बार करतलध्वनि की। अब तो बासवेल का मन बढ़ा और वह दूसरे जानवरों की बोली बोलने का भी प्रयत्न करने लगा पर उससे बना नहीं। इस पर दर्शकों में से एक बड़ी चतुराई के साथ बोल उठा "गाय ही तक रहो, गाय ही तक रहो"। हे युवक गण! तुम संयमी बनो और जहां तक पहुंच सकते हो वहीं तक हाथ बढ़ाओ। यह बात निश्चय जानो कि इस संसार में हममें से हर एक को कुछ न कुछ करना है और जो कुछ करना है और जो परमात्मा हमारे कार्य्य नियत

करता है वही उसके करने की शक्ति भी हमें प्रदान करता है। उसका बड़ा भारी अभाग्य समझना चाहिए जो यह नहीं जानता कि हमारा काम क्या है और ऐसी उड़ान मारना चाहता है जिसकी उसमें कुछ सामर्थ्य नहीं। मैं ऐसे बहुत से लोगों को जानता हूं जिनके हौसले उनकी योग्यता से बहुत बढ़े हुए थे और जिन्होंने थोड़ी पूंजी या अल्प साधन रख कर भी बड़े बड़े कामों में हाथ डाला और जो पीछे सिर पीट पीट कर खूब पछताए। मैं साहसी और क्षमताशाली पुरुषों के उत्साह को मंद नहीं करना चाहता और न उनके हौसले को पस्त करना चाहता हूं। मैं अकर्मण्यता और आलस्यपूर्ण संतोष का उपदेश नहीं देता हूं। प्रत्येक युवा पुरुष के लिये अपने बढ़ने का हौसला करना, अपनी उन्नति का प्रयत्न करना अच्छी बात है, पर उसे पहले अपनी सामर्थ्य का अंदाज़ बांध लेना चाहिए और प्रस्तुत साधनों का विचार कर लेना चाहिए। ऊपर चढ़ना तो अच्छी बात है, पर गिरना नहीं। उसे सीढ़ी सीढ़ी ऊपर चढ़ना चाहिए और प्रत्येक सीढ़ी पर यह देख लेना चाहिए कि पैर अच्छी तरह जमा है या नहीं। इस प्रकार अपने बल का निश्चय करके तब आगे की सीढ़ी पर पैर जमाना चाहिए। संयमी पुरुष ही इस संसार में अपने इच्छानुकूल सब कुछ कर पाते हैं। जो अपने साधनों का अच्छी तरह विचार कर लेता है वही कृतकार्य होता है। जो काम तुम्हारे लिये है वही करो, उससे अधिक की न तुम आशा कर सकते हो और न साहस

कर सकते हो। यही काम तुम्हारे लिये है जिसके करने के तुम्हारे पास साधन हैं। जगन्नाथ पंडितराज ने किसी रघुवंश ऐसे महाकाव्य में हाथ नहीं लगाया। शीशे पर रंग पोत कर भद्दी तसवीर बनानेवाले 'शकुंतलापत्रलेखन' के समान चित्र बनाने का आयोजन नहीं करते। जब कभी कोई कवि या शिल्पकार अपनी सामर्थ्य का विचार नहीं करता और अपना हौसला बहुत बढ़ाता है तब उसका परिणाम क्या होता है—घोर असफलता और जगत में हँसाई। ऐसे कवि का काव्य पुड़िया बांधने के काम में आता है और ऐसे करीगर की बनाई चीज़ काठ कबाड़ के संग बिकती है। क्योंकि हम चाहे जो करें प्रकृति को चकमा नहीं दे सकते। हम धूल की रस्सी नहीं बट सकते। हम जुगनू से दिन का प्रकाश नहीं कर सकते।

इसमें उदास और हतोत्साह होने की कोई बात नहीं है। युवा पुरुषों के हौसलों में प्रायः दोष यह होता है कि वे समझते हैं कि बड़ा भारी काम हाथ में ले लेना ही अच्छी तरह काम करना है। वे समझते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को चटपट अर्जुन ही बनना चाहिए, यह नहीं सोचते जब तक नकुल और सहदेव न रहेंगे तब तक अर्जुन में विशेषता क्या जान पड़ेगी? मेरा कहना यह है कि अच्छी तरह नकुल सहदेव बनना बुरी तरह अर्जुन बनने से अच्छा है। बढ़िया जूता बनाना, जो पैर में ठीक आवे, भद्दा पद्य बनाने से ज़्यादा इज़्ज़त की बात है। पुरानी कहावत है—

धीरज धरै सो उतरै पारा । नाहिं तो दौरि मुवै मकुधारा ॥

तुम इसकी बहुत चिंता न करो कि तुम्हारी हैसियत या स्थिति कैसी है। तुम्हारी हैसियत या स्थिति चाहे जैसी हो तुम उसे पुरुषार्थपूर्ण सात्त्विक व्यवहार तथा धर्म्माचरण की शोभा से अलंकृत करने का प्रयत्न करो। अपने उद्देश्यों में संयम रक्खो और अपनी वासनाओं को वश में करो, फिर देखो कि जो कार्य्य तुम्हारा हो कर तुम्हारे पास आता है, जिसे तुम समझते हो कि तुम अच्छी तरह कर लोगे, वह तुम्हारी दृष्टि में तथा औरों की दृष्टि में कितने महत्त्व का जँचता है। संयमी बनो, किसी बात में अति न करो और इस बात का भी ध्यान रक्खो कि जिस प्रकार तुम बुद्धिमत्ता-पूर्वक उस कार्य्य में हाथ नहीं डालना चाहते जो तुम्हारी सामर्थ्य के बाहर है उसी प्रकार औरों से भी बहुत अधिक की वांछा न करो। तुम न्यायी हो कर भी उदारता लिए रहो और उदार हो कर भी न्याय न छोड़ो। अपना मिज़ाज क़ाबू में रखना सीखो। अत्याचार, बेईमानी और बुराई देख कर पवित्र क्रोध से तमतमाना अच्छा है पर हर समय हर बात पर लाल होते रहना मूर्खता है। बड़ों ने क्रोध को 'पाप का मूल' कहा है। अतः तुम ऐसा क्रोध करो जो पाप न हो। धीर और शांत वृत्ति से कार्य्य में सुगमता होती है। उससे इस बात का आभास मिलता है कि मन और बुद्धि ठिकाने है। हम दूसरों पर अपना ताव दिखानेवाले कौन होते हैं?

बहुत से लोगों की नाक पर गुस्सा रहता है, जहां किसी ने कुछ कहा कि वे झल्लाए। साहियों की तरह इनके रोम रोम में कांटे होते हैं, जहां किसी ने कहीं हाथ रक्खा कि उंगलियां छिदीं। लोगों के साथ शांत व्यवहार करना सीखो। जीवन में जो बात जैसी पड़े उसे धैर्य के साथ बिना कुछ कहे सुने सहन करो। तुम अपने चित्त की वह शांति भंग न करो जो कर्त्तव्य-बुद्धि और परमात्मा के विश्वास पर निर्भर है। सहन करना और क्षमा करना जीवन का बड़ा भारी तत्त्व है और यह क्षमताशाली पुरुष के लिये कुछ कठिन नहीं है। क्षुद्र से क्षुद्र और दरिद्र से दरिद्र मनुष्य का जीवन भी धैर्य की मधुर शांति से उन्नत और महान् हो सकता है।

चौथा प्रकरण।

आचरण।

संसार आचरण ही देखता है। उसे हमारा आत्मबल निरीक्षण करने की न तो फ़ुरसत है न ग़रज़ वह हमारे चरित्र ही को हमारे आत्मबल का आभास समझता है। इससे यह मतलब नहीं कि मनुष्य के कार्य्यों ही से सदा उसके हृदय की थाह मिलती है और उसकी बुद्धि, भावना तथा प्रवृत्ति का ठीक ठीक पता लगता है। प्रायः ऐसा होता है कि मनुष्य के कार्य्य या तो उसकी मनोवृत्ति को बहुत बढ़ा कर प्रकट करते हैं या छिपाते हैं। मनुष्य जैसा होता है वैसा हम उसे समझते हैं। कौन मनुष्य कैसा है यह हम उसके कार्य्यों को देख कर निश्चित करते हैं। अतः जो अपने को भला कहलाना चाहता है वह उसके अनुकूल अपना आचरण बनाता है। किसी के विषय में जो संमति यों ही मोटे तौर पर बिना उसके कर्मों के ब्योरे पर ध्यान दिए हुए स्थिर की जाती है वह प्रायः अधूरी और कभी कभी अनुपयुक्त होती है। पर जहां तक मैं देखता हूं समाज के अधिकांश लोगों से इसके अतिरिक्त और दूसरी प्रकार की सम्मति की बहुत आशा भी नहीं की जा सकती। समाज से हम यह नहीं कह सकते कि किसी के कर्म पर विचार करते हुए वह

उसकी नीयत की पूरी छान बीन करे या उसकी अवस्था को अच्छी तरह सोच समझ कर कुछ निर्णय करे। यदि समाज किसी को गलीज़ में सना हुआ देखेगा तो यही समझेगा कि वह पनाले में गिरा था। यदि किसी भले आदमी को लोग दो चार लुच्चों के साथ देखेंगे तो वे अवश्य समझेंगे कि वह अपने को नष्ट कर रहा है, चाहे वह अपने मन को इस प्रकार भले ही समझा ले कि 'मैं जो काजल की कोठरी में अपनी सात्विकता की ज्योति को संसार की दृष्टि से छिपाए हूं वह केवल इसलिये जिसमें उससे साफ़ निकल कर मैं और भी प्रशंसा प्राप्त करूं' पर इससे क्या होता है? संसार तो उसके चारों ओर फैली कालिमा ही को देखेगा, ज्योति को न देखने जायगा। अस्तु हमें अपने आचरण का ध्यान रखना चाहिए। हम चाहे बात बात में इसकी परवा न किया करें कि मुंशी थियेनी सहाय देखेंगे तो क्या कहेंगे पर हमें इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि मुंशी जी को हमारी यथार्थ विडंबना की कोई सामग्री न मिले। युवकों को अपने उद्देश्यों की निर्दोषता का निश्चय बहुत अधिक होता है, इससे उन्हें सावधान रहना चाहिए कि उनके कर्म निर्दोष हों और उन पर कोई किसी प्रकार का लांछन न लगा सके, बुरे भावों का आरोप न कर सके। युवकों में एक प्रवृत्ति और बहुत होती है। वे लोक-विरुद्ध कार्य करने में अपनी बड़ी बहादुरी समझते हैं, वे बँधी हुई रीति मर्य्यादा का बड़े आवेग के

साथ तिरस्कार करते हैं, वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता का पक्षमंडन बड़ी धूमधाम के साथ करते हैं । पर, जैसा कि मिल* ने दिखाया है, एक व्यक्ति की स्वतंत्रता ऐसी न होनी चाहिए कि वह बहुतों की स्वतंत्रता में बाधा डाले । यदि स्वतंत्रता कुछ थोड़े ही से लोगों को प्राप्त हो जाती है तो उस पर उनका इजारा हो जाता है और वे और लोगों की स्वतंत्रता में बाधक होने लगते हैं । समाज के नियम इसलिये बनाए गए हैं जिसमें उसके व्यक्तियों का संबंध परस्पर ठीक रहे, इससे जो उनका तिरस्कार करता है उसे लाभ बहुत थोड़ा और हानि बहुत अधिक होती है। झक्कड़पन चाहे उतना बुरा न समझा जाय पर लोगों को वैसा ही खलता है जैसा अत्याचार। उसे कोई अच्छा नहीं कह सकता । किसी शुभ कार्य्य या मंगलोत्सव में किसी को काले कपड़े पहने देख लोगों का कांव काँव करना चाहे मूर्खता ही सही पर ऐसे अवसरों पर कोई काले कपड़े पहन कर क्यों जाय? एक ग्रंथकार बहुत ठीक कहता है कि जो बंदर पालेगा उसे वह सब नुक़सान भरना पड़ेगा जो वह बंदर तोड़ फोड़ कर करेगा। इसी प्रकार जो समाज की बंधी हुई रीति व्यवस्था को तोड़ेगा उसे उसका परिणाम भोगना पड़ेगा।

इस पुस्तक में आत्मसंस्कार के लिये जो जो बातें बतलाई गई हैं उन्हें अंगीकार कर के यदि युवापुरुष उन पर बराबर

* प० महावीर प्रसाद द्विवेदी की "स्वाधीनता" देखो।

चलें तो फिर किसी को कुछ कहने सुनने की जगह न रहेगी। क्योंकि इस आत्मसंस्कार के अंतर्गत मनोवेगों के परिष्कार और बुद्धि के परिमार्जन का भी विधान है तथा जीवन में मनुष्य के जो जो कर्त्तव्य हैं उनके पालन की भी व्यवस्था है। हम पहले ही दिखला चुके हैं कि युवा पुरुष को अपने माता-पिता या भाई के साथ कैसा होना चाहिए, उसे अपने नित्य के व्यवहारों का निर्वाह किस प्रकार करना चाहिए, तथा उसमें किस प्रकार के उद्देश्यों की प्रेरणा होनी चाहिए। उसके लिये यह बतलाया गया है कि वह घर में शांत और शुद्ध स्नेह की सुंदर व्यवस्था रक्खे, अवसर पड़ने पर किसी को अपनी मैत्री से वंचित न रक्खे, इसका ध्यान रक्खे कि दरिद्र, मूर्ख और पापी भी उनकी दया के पूर्ण अधिकारी हैं जो सब प्राणियों के प्रति अपना कर्त्तव्य निबाहना चाहते हैं। इतना ही नहीं उसे यह भी समझाया गया है कि परमात्मा की ओर से उसे धरोहर की भांति जो बड़ी बड़ी शक्तियां (इंद्रिय, बुद्धि आदि) प्रदान की गई हैं उनका पोषण और उपयोग करे। प्रायः हमें यह बड़ी देर में दिखाई पड़ता है कि हमारे हाथ में कैसा सुंदर अवसर है और हमें उच्च कर्तव्य और फलदायक त्याग के लिये कैसी मधुर वाणी आह्वान कर रही है। जब कि हम आलस्य की जंभाई लेते हुए मार्ग पर चुपचाप खड़े अपना प्रारब्ध ही खोटा समझते हैं उच्चाशय लोग आशा-पूर्वक आगे की ओर दृष्टि फैलाते हैं और कर्त्तव्य-पालन का

पवित्र अवसर पाते ही उसकी ओर झुक पड़ते हैं। आत्म-संस्कार के कार्य्य को यदि हम ठीक ठीक समझेंगे तो हममें हाथ में आए अवसरों से लाभ उठाने की प्रवृत्ति होगी, हमारी आँखें खुल जांयगी, और हमारे कान खड़े हो जांयगे। इस प्रकार हमारा आचरण एक धार्मिक पुरुष का सा हो जायगा और हमें अपने वर्त्तमान और भविष्य के कर्त्तव्य का बोध हो जायगा।

अपना ऐसा भव्य और सुंदर आगम देख कर युवा पुरुष को ऐसा जीवन व्यतीत करने का उत्साह होगा जो परमात्मा के अनुकुल हो और जिससे लोक का हित हो। वह आप तो बराबर उन्नति करता ही जायगा दूसरों को भी ज्ञान, औदार्य और धर्म में उन्नति करने में सहायता देगा। वह लोक में जो कुछ सत्य, सुंदर और पवित्र होगा उससे प्रेम करेगा और इसमें तनिक भी लज्जित न होगा, वह काव्य और कला के उत्कृष्ट भावों तथा विज्ञान के प्रखर तत्त्वों को हृदयंगम करेगा। उसे अपने नित्य के व्यवहार में एक प्रकार का पुनीत उत्साह रहेगा जो उसके विचारों को उन्नत करेगा, भावों को पवित्र करेगा और परिश्रम को सफल करेगा। वह अपने धर्म-संबंधी कर्त्तव्य और आचार का पालन विनीत, श्रद्धालु और दम्भ-शून्य हो कर करेगा, धर्मध्वजी न बनेगा। वह धर्म को सदाचार का मूल मान कर उस पर दृढ़ रहेगा और मनुष्य तथा सृष्टि के पदार्थों की प्रकृति में परमेश्वर की सर्वव्यापिनी उदा-

रता और बुद्धि का प्रकाश देखेगा। इस प्रकार आत्मसंस्कार के आदर्श को उन्नत करते तथा सच्चे पुरुष के समान श्रेष्ठ जीवन के हेतु प्रयत्न करते हुए वह ईश्वराराधन को अपना बड़ा भारी बल और सहारा समझेगा और सब बातों में उस परमात्मा की ओर देखेगा जो सदा उन लोगों के हृदय में प्रेरणा किया करता है जो उसकी इच्छा के अनुकूल चलना चाहते हैं। ईश्वराराधन के बिना आत्मसंस्कार एक ढकोसला मात्र होगा क्योंकि परमात्मा ही की प्रेममयी भावना के अवलंब पर आत्मा अपनी उन्नति के विविध साधनों में आशा और उत्साह के साथ प्रवृत्त होती है।

अब हम नित्य प्रति के लौकिक व्यवहारों की ओर आते हैं। यहां युवा पुरुषों के आचरण के लिये कुछ नियम निर्धारित किये जा सकते थे पर मैंने उन साधारण सिद्धांतों ही का उल्लेख ठीक समझा है जो जीवन के समस्त उचित कर्म्मों तथा उद्देश्यों पर घटते हैं। इन सिद्धांतों को कहां किस प्रकार व्यवहार में लाना चाहिए यह मैंने प्रत्येक पाठक पर छोड़ दिया है। जो युवा पुरुष आत्मसंस्कार ऐसे महत्कार्य में प्रवृत्त होगा उसे यह बतलाने की आवश्यकता न होगी कि सब काम ठीक समय पर करना चाहिए, पूरा परिश्रम रखना चाहिए, वह असावधानी और टालमटूल की बुराइयों को अच्छी तरह समझेगा। अतः हम इससे थोड़ा आगे बढ़ते हैं। युवा पुरुष को जीवन के कार्य्यों को आरंभ करते हुए, जीवन के मार्ग पर पैर

रखते हों रुपये की क़दर को समझ लेना चाहिए। यह समझ बहुतों को बहुत कुछ दुःख उठा चुकने पर आती है जब कि सारी आशाओं पर पानी फिर जाता है और सारे हौसले पस्त हो जाते हैं। रुपये को लोग हाथ की मैल कहते हैं पर यह मैल यदि मान मर्य्यादा और औचित्य के साथ प्राप्त और वितरित की जाय तो निस्सन्देह बड़े महत्त्व की वस्तु है। चाहे हम उदारतापूर्वक लोभियों का तिरस्कार करें, चाहे हम ऐसे लोगों से उपयुक्त घृणा करें जो रुपया पैदा करना ही अपने अविश्रांत और असंतोषपूर्ण प्रयत्नों का एक मात्र उद्देश्य समझते हैं और "सर्वेगुणाः कांचनमाश्रयंति" के पूरे समर्थक हैं, पर द्रव्य की उपयोगिता को हम किसी प्रकार अस्वीकार नहीं कर सकते न यह कह सकते हैं कि सच्चे प्रयत्न करनेवालों को द्रव्य से वंचित रहना चाहिए। विरक्त लोग धन को तुच्छ समझें तो समझ सकते हैं पर गृहस्थ के लिये धन बड़ी भारी शक्ति है—भलाई करने की बड़ी भारी सामर्थ्य है। यह दुर्बलों में बल ला सकता है, पीड़ितों का उद्धार कर सकता है, अनाथ बालक के मुख पर प्रफुल्लता ला सकता है और दुखिया विधवाओं के आंसू पोंछ सकता है। धन का सदुपयोग करो, दुरुपयोग न करो। अपनी बुद्धि उसमें लगाओ, पर अपनी मनोवृत्तियों को उसके अधीन न करो। बहुतेरे नवयुवक रुपये के संबंध में बड़ी असावधानी प्रकट करते हैं और गहरी लापरवाही के साथ इधर उधर उसे उड़ाते हुए कहते हैं कि वह तो हमारे हाथ में ठहरता नहीं।

पर इस प्रकार की बेपरवाही से, चाहे आशय की उच्चता प्रकट हो पर ऋण की नौबत आती है और ऋण से अनेक प्रकार के कष्ट होते हैं। आत्मसंस्काराभिलाषी युवक के लिये ऋणी रहना किसी प्रकार ठीक नहीं। यदि वह ऋणी रहेगा तो उसका चित्त किसी घड़ी चिंता से मुक्त ही न रहेगा पुस्तकों की ओर क्या जायगा। बाबू हरिश्चंद्र रुपये पैसे के विषय में बहुत असावधान रहे जिसके कारण उनके जीवन का पिछला भाग बहुत किर-किरा हो गया। *इंगलिस्तान का प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ सदा* ऋण का कष्ट भोगा करता था। उसने एक बार अपने भाई को बड़े मर्मस्पर्शी शब्दों में लिखा—"अपने लड़के को किफ़ायत करना सिखलाओ। उसके सामने इधर उधर मारे मारे फिरने-वाले उसके दरिद्र चचा का दृष्टांत रक्खो। इसके पहले कि मैं अनुभव द्वारा दूरदर्शिता की आवश्यकता को जान लेना मैंने पुस्तकों के द्वारा उदार और निःस्वार्थ होना सीखा। इधर तो मैंने तत्त्वदर्शियों की सी टेव पकड़ी उधर चालबाज़ों की बन आई। साधारण वित्त का मनुष्य हो कर कभी कभी मैंने दान में अति कर दी। मैं न्याय की रीति भूल गया और मैंने अपनी दशा भी उन्हीं अभागों की सी कर डाली जिन्होंने मेरा कुछ भी उपकार न माना।" यदि कोई युवा पुरुष निरंतर सुखपूर्वक निर्वाह करना चाहता हो तो उसे अपनी आमदनी से कम खर्च करना चाहिए, यदि वह उसके बराबर खर्च करेगा तो कुछ दिनों में उससे अधिक खर्च करने लगेगा। फिर क्या है, उसके

ऊपर पहला ऋण होगा, कुछ दिन बीतते बीतते दूसरा होगा, तीसरा होगा इसी प्रकार ऋण पर ऋण होता जायगा और उसका तार जिंदगी भर न टूटेगा। ऋण एक नाले के समान है जो ज्यों ज्यों आगे चलता है त्यों त्यों बढ़ता जाता है। सब से बुरी बात ऋण में यह है कि जिसे ऋण का अभ्यास पड़ जाता है उसकी धड़क खुल जाती है, उसे आगम का भय नहीं रह जाता और जब तक उसका नाश नहीं हो जाता तब तक वह विष का घूंट बराबर पिये जाता है। यदि उसका ऐसा चित्त हुआ जिस में बात जल्दी लगती हो तो वह निर्द्वंद्व न रह सकेगा, ऋण के बराबर बढ़ते हुए बोझ से दब कर छटपटाया करेगा।

मैं यह नहीं मानता कि आत्मसंस्कार में निरत युवा पुरुष के लिये निर्धनता कोई बड़ी भारी बाधा है, उसमें भी आज कल जब कि लिखने पढ़ने के सामान इतने सस्ते हैं और ज्ञान के मार्ग का बहुत कुछ कर उठा दिया गया है। पहली बात तो यह है कि निर्धनता परिश्रम की बड़ी भारी उत्तेजक है, इतनी बड़ी उत्तेजक है कि पैथागोरस कहता है कि "योग्यता और अभाव दोनों का साथ है"। हमारे यहां के अधिकांश तत्ववेत्ता और कवि निर्धन मनुष्य थे। सूर, तुलसी, जायसी, गोतम, कणाद आदि धनाढ्य पुरुष नहीं थे। जायसी में बहुत कुछ आत्मबल उसकी निर्धनता के कारण था। उसके विषय में एक जनश्रुति है कि उन्हें एक बार जौनपुर के बादशाह ने बुलाया। जब वे बादशाह के सामने गए तब बादशाह उनके

काले रंग और कानी आंख पर हँसा। जायसी ने यह कहा "मोहि का हंसेसि कि कोहँरहि?"। बहुत से विद्वान् ऐसे हुए हैं जो तत्वचर्चा में मग्न रहते थे और समय पर जो कुछ रूखा सूखा मिलता था खाकर रह जाते थे। दूसरी बात यह है कि निर्धनता से मनोवेगों का संस्कार होता है। इसके द्वारा हम सहानुभूति और सहिष्णुता सीखते हैं, दूसरों को उसी दुःख में देख जो हम स्वयं भोगते हैं हम उन पर दया करना सीखते हैं। यह बहुत प्रसिद्ध कहावत है "जाके पांव न फटी बेवाई। सो का जाने पीर पराई।" तीसरी बात यह है कि निर्धनता हमें प्रलोभनों में फँसने के साधन से वंचित रखती है और इस बात पर हमें विवश करती है कि हम प्रकृति निरीक्षण और पुस्तकावलोकन का आनंद लें। पर निर्धनता का प्रभाव कुछ लोगों पर इसका उलटा भी पड़ता है। इससे उनका चित्त कठोर और संकुचित हो जाता है और उन्हें बहुत सी बातों के करने में आगापीछा नहीं रह जाता। यदि ऐसे मनुष्यों को अपव्यय और दुर्व्यसन के कारण ऋण का भी चस्का हुआ तो उनके सारे आचार विचार पर पानी फिर जाता है और वे दिन दिन बुराइयों के गड्ढे में गिरते चले जाते हैं। यहां पर यह स्पष्ट बतला देना आवश्यक जान पड़ता है कि यह बल और उत्साहप्रदायिनी निर्धनता जिसमें पंडित ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने इतना साधु प्रयत्न किया उस निंदनीय और शक्तिघातिनी निर्धनता से भिन्न है जिसमें भारतेंदु

हरिश्चंद्र, माइकेल मधुसूदन दत्त और मिर्ज़ा ग़ालिब आदि ने अपव्यय के कारण अपने दिन विताए। बात तो यह है कि तुम अपनी जीवन-यात्रा चाहे ग़रीब के मोटे कपड़े पहन कर आरंभ करो चाहे अमीर के रेशमी और कामदार कपड़े पहन कर, तुम्हें किफ़ायत का ध्यान रखना चाहिए और मितव्ययी होकर ऋण के प्रेत को दूर ही रखना चाहिए।

ऋण के मुख्य रूप से चार कारण बतलाए जाते हैं, कपड़ा लत्ता, जूता, तड़क भड़क और आमोद प्रमोद। जिसने आत्म-संस्कार का उच्च व्रत लिया हो उसे इनमें से किसी के जाल में न फंसना चाहिए। कपड़े लत्ते ही को लीजिए। थोड़े ही से ख़र्च में तुम अपना रूप रंग दस भले आदमियों के पास मर्य्यादापूर्वक बैठने के योग्य बना सकते हो। मैं यह नहीं कहता कि तुम विरक्तों के समान कपड़े लत्ते की कुछ परवाह ही न रक्खो और फटे पुराने चिथड़े लपेटे रहो। अपनी मर्य्यादा के लिये यह बहुत आवश्यक है कि हमारे कपड़े लत्ते ऐसे भद्दे और गँवारू न हों कि चारों ओर लोग उँगली उठावें, पर पहनावे आदि के विषय में बस इतनी ही बात का ध्यान रखना बहुत है। कोट की काट छाँट, पैजामे का चढ़ाव उतार, टोपी की सज धज आदि के विषय में प्रवीणता दिखाने और तर्क वितर्क करने के लिये फ़ैशन के ग़ुलाम शोहदों और छिछोरों ही को छोड़ देना चाहिए। हम लोगों को तो इससे अधिक महत्त्व की बातें सीखनी हैं, इससे अधिक उच्च उद्देश्यों का

साधन करना है। सादगी, सफ़ाई और सुडौलपन पहनावे के विषय में ये ही तीन बातें हमारे ध्यान रखने की हैं, इनका चाहे हम जितना ध्यान रक्खें हमें ऋण न लेना होगा।

जूए के विषय में बहुत क्या कहा जाय? युवा पुरुषों के लिये इस बुराई में फँसना अब उतना सुगम नहीं है। सरकार ने जुआखाने बंद कर दिए हैं जिनमें न जाने कितने अभागों के घर सत्यानाश हो गए हैं। पर जूए की प्रकृत्ति जिसमें हो जाती है वह उसके लिये हज़ारों ढंग निकाल लेता है। इस प्रवृत्ति को आरंभ ही में दबाना चाहिए। नवयुवकों को यह दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिए कि वे किसी प्रकार की बाज़ी न लगावेंगे या चिट्ठी आदि न डालेंगे। उन्हें घुड़दौड़ इत्यादि की बाजी से कोसों दूर रहना चाहिए। आज कल के समय की बड़ी भारी बुराई चटपट अमीर हो जाने तथा बिना कामधंधा किए रुपया पैदा करने की इच्छा है। पर यदि तुमने इस प्रकार की इच्छा से अपना रुपया बिना समझे बूझे धूर्तों के गड़े किए हुए नक़ली कारबार में लगाया या चौगुना सूद देने वाले दिवालिए बकों में डाला तो समझ रक्खो कि झूठी आशा मात्र पर तुमने अपना सर्वस्व गंवाया और बैठे बैठाए अपने ऊपर दुःख का अंधड़ बुलाया। इस संसार में असावधान तथा आगा पीछा न सोचने वाले लोगों के लिये धूर्तों का दरवाज़ा चौबीसो घंटे खुला है। धन की हाय हाय में पुरुष अपनी मर्य्यादा गवांते हैं और स्त्रियां अपनी स्वाभाविक मृदुलता

से हाथ धोती हैं। आत्मसंस्कार की अभिलाषा रखने वाले युवक को भी यदि यह भयानक रोग लग गया तो बड़े ही दुर्भाग्य की बात है! फिर उसे आत्मसंस्कार की सारी आशा छोड़ देनी चाहिए, सादी रहन और ऊंचे विचार रखने का सारा संकल्प हृदय से निकाल देना चाहिए। एक प्रभावशाली लेखक लिखता है—"धन की यह प्रबल-वासना इस अति को पहुंच गई है कि इसके कारण हम जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक सुख का कुछ अंदाज़ ही नहीं पाते। जब कि हम ने उसको जो साधन मात्र है महत्तम उद्देश्य बना डाला, जब कि उसकी कामना जिससे कुछ शारीरिक सुख सुलभ हो धर्म और ज्ञान-संपत्ति की कामना से कहीं अधिक गहरी हो गई तब इसके सिवा और होना ही क्या है? फिर तो हम धनी होने ही के लिये जीवन-निर्वाह करते हैं, जीवन-निर्वाह करने के लिये धनी नहीं होते। केवल वर्षों का बीतना ही जीवन नहीं है। खाना पीना और पड़ रहना, शीत घाम सहना, अभ्यासानुसार धन के कोल्हू में नधे नधे आंख मूँद कर चक्कर काटना, बुद्धि को बहीखाते और विचारों को व्यवसाय की जिंस बनाना—इसी को जीवन नहीं कहते। इस इतने में तो मानवजीवन की सज्ञानता का बहुत ही क्षुद्र अंश जागृत होता है और वे उच्च वृत्तियां सुषुप्त अवस्था में रहती हैं जिनके कारण जन्म सफल होता है। ज्ञान, सत्य, प्रेम, सौंदर्य्य, विश्वास, सद्गुण आदि ही से जीवन में यथार्थ शक्ति आती है। आनंद की हँसी जो कलेजे

की कली को खिला देती है, आंसू जो हृदय को आर्द्र कर देते हैं, संगीत जो थोड़ी देर के लिये हमारी बाल्यावस्था फेर लाता है, ईश्वराराधन जो हमारा आगम हमारे निकट लाता है, शंका जो चित्त में विचार उत्पन्न करती है, मृत्यु जिसका रहस्य हमें चकित करता है, बाधाएं जो हमें प्रयत्न करने को विवश करती हैं, व्यग्रता जो अंत में हमें आशा बँधाती है तथा इसी प्रकार की और जो बातें हैं ये ही हमारी स्वाभाविक स्थिति को पोषण करने वाली हैं। पर ऐसी बातों से जो मानव-जीवन की नस नस में घुसी हुई हैं धन के लोलुप सदा दूर भागते फिरते हैं। उन्हें ऐसी बातों की चाह नहीं जो नित्य और सार रूप चेतन से संबंध रखती हैं। वे परमार्थ से चित्त को हटा कर स्वार्थ में लीन होते हैं। वे जीवन के सच्चे और स्वाभाविक व्यापारों से जीविका की चिंता का बहाना लेकर भागते हैं, और जीवन-निर्वाह के लिये तैयारी ही करते करते मर जाते हैं।"

ऋण का तीसरा कारण मैंने दिखावट वा ठाट बाट बतलाया है। हम अपने को ऐसा प्रगट करना चाहते हैं जैसे हम वास्तव में नहीं हैं, हम अपने साथियों से अपने को बढ़ कर दिखाना चाहते हैं, हम अपव्यय में उनसे बढ़े रहना चाहते हैं और क्षति करने में उनसे पीछे नहीं रहना चाहते। मैं बहुत से ऐसे युवक पुरुषों को जानता हूं जिन्होंने इस घोर वासना के वशीभूत हो कर अपना प्रारंभिक जीवन किरकिरा कर दिया।

पहले तो वे 'बड़े आदमियों' की संगत में मिले, वहां उन्होंने देखा कि उनके साथी उनसे अच्छे अच्छे कपड़े पहनते हैं और ज़्यादा ख़र्च वर्च रखते हैं। अतः अपने सद्गुण और आचरण से प्रतिष्ठा प्राप्त करने की इच्छा करने के स्थान पर ये अपने मित्रों से उन्हीं का सा ठाठबाट बना कर मिले और संसार पर यह प्रकट करके उनसे बराबरी का दावा करने लगे कि "हम भी तुम्हारे उन्हीं के इतना या उनसे अधिक ख़र्च रखते हैं"। वाह! मनुष्यों की परस्पर छोटाई बड़ाई वा बराबरी की क्या अच्छी माप है! यदि मटरूमल इतना अधिक ख़र्च रखते हैं जितना घासीराम की समाई नहीं तो मटरूमल चाहते हैं कि घासीराम हमारी प्रशंसा करे। पर इस प्रकार की दिखावट गंवारपन और बेईमानी है। कोई भला आदमी झूठा आडंबर रच कर अपनी प्रतिष्ठा कराना नहीं चाहता। कोई भला आदमी अपने को उससे अधिक नहीं प्रकट करना चाहता जितना वह वास्तव में है। प्रत्येक समाज इस प्रकार के लुच्चों की भरपूर ख़बर लेता है। वह मनुष्य जो ऊपरी ठाट बाट और रंग ढंग दिखा कर अपनी धाक बांधना चाहता है निस्संदेह नीच है। ऐसे की समाज में बड़ी निंदा होती है।

बड़े बड़े ख़र्च के आमोद प्रमोद में लीन होने से भी बहुधा ऋण होता है। तुम कहोगे कि युवा पुरुषों के लिये कोई न कोई आमोद प्रमोद तो अवश्य चाहिए। ठीक है, पर जो आमोद प्रमोद दिन दिन दुःख के समुद्र में ढकेलता जाय वह किसी

काम का नहीं। यदि तुम्हारी औकात इतनी नहीं है कि तुम थियेटर देखने जाओ, बड़े बड़े भोज दो, नाच रंग का सामान करो तो तुम अपने मनबहलाव की ऐसी बातें निकालो जिनमें खर्च कम हो। एक छात्र ने एक बार मुझसे कहा था कि मैं अपना मनबहलाव किफ़ायत में अच्छी तरह कर लेता हूं।' बात भी ठीक है। सरकारी अजायबघर हैं, चित्रशालाएं हैं, विज्ञानालय हैं जहां थोड़ी देर चले जाने में कुछ नहीं लगता। जब जी चाहे सितार हारमोनियम आदि से जी बहलावे, जंगल पहाड़ या मैदान की ओर निकल जाय और प्रकृति के सौंदर्य्य का आनंद ले। यदि मन ही बहलाना है तो उसके अनेक ढंग हैं। किफ़ायत से रहने वाले आदमी के लिये मन-बहलाव की कमी नहीं है। यदि खेल की ओर रुचि हो तो गेंद चौगान आदि कम ख़र्च वाले खेलों से बिलियर्ड आदि क़ीमती खेलों की अपेक्षा स्वास्थ्य को अधिक लाभ है। संध्या के समय नदी के किनारे टहलने से जितना चित्त प्रफुल्लित होता है उतना ठाट बाट के साथ मेलों में धक्का खाने से नहीं। क्या ही अच्छा हो यदि कोई मनुष्य जिसे पूरी जानकारी हो कोई ऐसी छोटी पुस्तक लिखे जिसमें लोगों के लिये कम ख़र्च में होने वाले आमोद प्रमोद का विधान हो। इस प्रकार की पुस्तक बड़े मज़े की और बड़े काम की होगी। किसी के लिये कोई मनबहलाव बतलाने में सब से पहले यह आवश्यक है कि उसकी रुचि का, यदि वह शुद्ध और सात्विक है, विचार

किया जाय। नीत्युपदेशकों का प्रथम कर्त्तव्य यह है कि वे किफ़ायत के लाभों को ज़ोर देकर समझावें। किफ़ायत सुख, स्वतंत्रता और पूर्णता की जननी तथा संयम, स्वास्थ्य और प्रफुल्लता की सहगामिनी है।

मैं इस बात को आग्रहपूर्वक कहता हूं कि प्राकृतिक सौंदर्य का प्रेम ज्ञान का प्रधान अंग है। मनुष्य की वृत्ति और आचरण पर भी इसका बड़ा प्रभाव पड़ता है। मनुष्य के लिये यह आनंद का अक्षय्य श्रोत है। सृष्टिकर्त्ता का सारा भाव उसकी सृष्टि में है। जो प्रत्येक फूल को देख कर प्रफुल्लित होता है, जिसे प्रत्येक झरने में आनंद की ध्वनि सुनाई पड़ती है वह कभी श्रांत और उदास नहीं रह सकता। वह चाहे जहां रहेगा उसे कोई न कोई वस्तु ऐसी मिल जायगी जिससे उसका मनोरंजन होगा, जिसमें उसका चित्त रमेगा, जो उसके अंतःकरण के मर्म को स्पर्श करेगी। चाहे कोई ऋतु हो, वह अपने चारों ओर सुंदर और विचित्र पदार्थों की सजावट देखेगा। प्रकृति देवी के समक्ष अपना हृदय भर खोलना चाहिए फिर तो वह अपनी विभूति का ऐसा शुभ मंत्र फूकेगी जिससे बुरे विचार हवा हो जांयगे और सारी उदासी उड़ जायगी। प्रकृति के प्रभाव में कुछ ऐसी मोहिनी शक्ति है जो, हमारी कुवृत्तियों को दबा देती है। पर्वतों की शांत और मनोहारिणी छटा के सामने जाकर, समुद्र की रहस्यमयी भीषण वाणी को सुनकर कोई अपने कृत्रिम सांसारिक भावों को स्थिर नहीं रख

सकता। उसकी बुद्धि निस्संदेह भ्रष्ट है, उसका हृदय अवश्य कलुषित है जो उस समय भी अपनी सांसारिक कुवासनाओं को नहीं छोड़ सकता जब कि कोकिला का मनोहर कंठनाद आकाश से रसबिंदु टपकाता है और प्रभात का शीतल समीर कुसमित-कानन का सौरभ लिए मंद मंद चलता है। आत्मसंस्कार में प्रकृति का अध्ययन भी सम्मिलित है जिससे कल्पना और बुद्धि को शुद्ध और उन्नत करनेवाली एक अलौकिक प्रेरणा प्राप्त होती है। मनुष्य की आत्मा के लिये उससे बढ़कर प्रभाव और कहां से आवेगा जो उसे वन, पर्वत, समुद्र, और नक्षत्रों से प्राप्त होता है, जो उसे नदी तट की फूली हुई झाड़ियों तथा मंद और अखंड गति से बहते हुए झरनों से दिखाई देता है। प्रकृति के पास जाओ और सब कुछ लो। संगीत लो। हरी हरी घासों के बीच बहते हुए नालों के कल कल और उड़ते हुए पक्षियों के स्वर में कैसा सुंदर आलाप भरा है, कैसी सुंदर तान सुनाई देती है! पृथ्वी पर से जीवों की मिलित ध्वनितरंग उठकर कैसे अपूर्व संगीत का सुर भरती है! कला चातुरी लो, कला भी प्रेरणा के लिये प्रकृति ही का मुहँ ताकती है। प्रकृति ही से वह रंग और आकृति के विचित्र विचित्र मेल लेती है। विज्ञान लो। प्रकृति ही उसका मूल आधार है, प्रकृति ही उसका उद्गम स्थान है। प्रकृति ही से वैज्ञानिक विचारों का आविर्भाव और प्रकृति ही से समाधान होता है। हरे भरे कछारों, श्यामल अमराइयों,

लहलहाते खेतों में जो मधुर और कोमल शक्ति है यह और कहां पाई जा सकती है? गगनभेदी हिममंडित गिर-शिखर से बढ़ कर भव्य प्रभाव और किसका पड़ सकता है? विविध छाया और ज्योतियों से विभूषित सागर के अपार विस्तार से बढ़ कर चमत्कार और कहां देखने को मिल सकता है? यहां पर मैं कला-कोविद रस्किन नामक प्रसिद्ध अंगरेज़ ग्रंथकार के कुछ शब्द बिना उद्धृत किए नहीं रह सकता—"यह एक शांत और शुभ प्रभाव है जो अज्ञान रूप से हृदय में प्रवेश करता है। यह चुप चाप बिना किसी प्रकार का उद्वेग उत्पन्न किए फैलता है। इसको ग्रहण करने में किसी प्रकार का खटका या किसी प्रकार की उदासी नहीं होती। इससे उग्र मनोवेग नहीं उभड़ते। यह मनुष्यों के मत मतांतर से अक्षुण्ण और अंध विश्वास से निर्लिप्त रहता है। यह सीधे कर्त्ता के हाथ से छूट कर आता है और उस परमात्मा के सामीप्य का आभास लिए हुए जगमगाता है। यह आकाश-मंडल में खचित दिखाई पड़ता है। यह प्रत्येक नक्षत्र से आभासित होता है। यह उड़ते हुए मेघखंड और अलक्ष्य पवन में रहता है। यह पृथ्वी की पहाड़ियों और घाटियों में रहता है जहां तृण-गुल्म-शून्य शिखर चिर-तुषार-पूर्ण वायु को स्पर्श करते हैं, जहां निविड़ कानन के बीच प्रचंड वायु के झोंके खाकर हरी हरी पत्तियां लहरें मारती हैं। यह प्रभाव आकुल समुद्र के अपार वक्ष-स्थल पर सुबोध भाषा में अंकित मिलता है। यही प्रकृति का काव्य

है। यही हमारी आत्मा को सहारा दे दे कर ऐसा दृढ़ कर देती है कि वह सारी भव-बाधाओं को कुछ नहीं समझती, यही हमारे उस बंधन को क्रमशः तोड़ कर जो हमें भौतिकता में बद्ध रखता है हमारी कल्पना के सामने आध्यात्मिक सुंदरता और पवित्रता का एक विश्व उपस्थित करता है"। मित्रो! तुम इस प्रभाव को अपनाओ, फिर देखो कि तुम में इतना बल आ जायगा कि तुम कालक्रम के अनुसार आनेवाली आपदाओं और जीवन के अव्यवस्थित करनेवाले संकटों को कुछ भी न समझोगे। यदि तुम थके होगे तो यह तुम्हें विश्राम देगा, यदि दुखी होगे तो ढाढस देगा। यही एकांत में तुम्हारा सच्चा और शुद्ध साथी होगा। यही तुम्हारे उस परब्रह्म के ज्ञान और आनंद के रहस्य को खोलेगा प्रकृति जिसका ऊपरी आच्छादन मात्र है। यही तुम्हारे आगे उस नीच वृत्ति की घोरता को प्रत्यक्ष करेगा जिसके वश में हो कर एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को खाने के लिये तैयार रहता है। यही तुम्हारे हृदय में उन उच्च भावों का समावेश करेगा जो हृदय को दुर्बल नहीं होने देते और आत्मा को मोहनिद्रा नहीं लेने देते।

मनुष्य का आचरण बहुत कुछ उसके जीवन के उद्देश्य पर निर्भर रहता है। भूमि पर रेंगनेवाले कीड़े को ऊपर की वायु के सुहावनेपन का क्या अनुमान हो सकता है? यदि मनुष्य का संकल्प बहुत क्षुद्र है तो उसे पूरा करने में शायद कुछ प्रयत्न न करना पड़े। पर प्रयत्न वा चेष्टा ही की प्रेरणा

से मनुष्य में क्षमता आती है और उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ उन्नत होती हैं। यदि हम श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करना चाहते हों तो हमें चाहिए कि हम अपना उद्देश्य श्रेष्ठ रक्खे, हम अपना आदर्श उच्च रक्खें। जब एक बार हम अपने हृदय में अपना आदर्श यह सोचते हुए स्थिर कर चुके कि हम उसे अवश्य प्राप्त करें, हमारा जीवन उसके अनुरूप अवश्य हो तब हम धीरे धीरे उस आदर्श तक पहुंच ही जाँयगे और हममें नित्य प्रति मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति दिखाई पड़ेगी। फल या पुरस्कार की उच्चता के अनुसार ही प्रयत्न को उच्चता प्राप्त होती है, यद्यपि प्रयत्न का आनंद फल के आनंद पर निर्भर नहीं रहता। लड़ाई में सिपाहियों को जो बड़े बड़े तग़में दिए जाते हैं उनके कारण प्रत्येक वीरोचित कर्म्म में एक नवीन और मनोहर कांति आजाती है। वह सैनिक जो वीरत्व का कोई बड़ा चिह्न प्राप्त करने पर उद्यत होगा, अपने और साथियों से कहीं बढ़ कर साहस और धीरता दिखावेगा। उसकी आत्मा वीरता की उतनी मात्रा तक क्रमशः पहुंचती जायगी जितनी उस पदक की प्राप्ति के लिये आवश्यक है। अतएव प्रकृति की नम्रता और व्यवहार की विनीतता का उपदेश देते हुए भी मैं यही चाहता हूं कि युवा पुरुष अपने लक्ष्य उच्च रक्खें। यदि वे ऐसा करेंगे तो बहुत संभव है कि वे उससे और बढ़ कर दांव मारेंगे। वारन हेस्टिंग्ज़ (भारत के प्रथम गवर्नर जनरल) ने यही संकल्प कर

के जीवन के कार्य्यक्षेत्र में पैर रक्खा था कि अपनी पुरानी जमींदारी फिर प्राप्त करेंगे। उन्होंने अपना यह सकल्प तो पूरा ही किया इससे बढ़ कर और भी बहुत कुछ किया—उन्होंने भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव स्थिर कर दी और अपने समय के राजनीतिज्ञों में उच्च स्थान प्राप्त किया। यह मैं मानता हूं कि उनका उद्देश्य बहुत उच्च नहीं था क्योंकि केवल स्वार्थपूर्ण उद्देश्य उच्च नहीं हो सकता। आत्मसंस्कार के इच्छुक युवा पुरुष इससे अधिक विशद जीवन की ओर लक्ष्य रख सकते हैं, इससे अधिक महान उद्देश्य हृदय में धारण कर सकते हैं। उन्हें अपने विचारों को विस्तृत करना चाहिए, उन्हें आगम का भी ध्यान रखना चाहिए। उन्हें यह समझ कर कि उनके अधिकार में केवल यह काल-बद्ध जीवन ही नहीं बल्कि अमरत्व भी है मनुष्य जन्म को सफल करनेवाले कार्य्यों और उद्देश्यों में रत होना चाहिए। इस विस्तृत संसार में प्रत्येक मनुष्य के लिये कोई न कोई शुभ कर्म्म है, उसे उत्कंठा पूर्वक उसको ढूंढ निकालना तथा सच्चे कर्म्मनिष्ठ की भाँति उसमें तत्पर हो जाना चाहिए। इस संसार में बहुत कम लोगों को उच्च लक्ष्य रखने के कारण असफलता होती है, अधिकांश लोगों का जीवन क्षुद्र लक्ष्य रखने के कारण क्षुद्र हो जाता है। एक बार जब कि मैं छोटा था अपने शिक्षक से निशाना लगाना सीख रहा था। शिक्षक ने मुझसे कहा "निशाने से ऊपर मारो नहीं तो खाली जायगा"। उनके इस

कथन में बड़ा भारी उपदेश भरा था। इसी उपदेश पर ध्यान रखने का मैं पाठकों से अनुरोध करता हूं। तुलसीदास जी ने जो इतनी बड़ी रामायण लिख डाली वह इस कारण कि उन्हों ने आरंभ ही से कोई "पचासा वा चालीसा" लिखना नहीं ठाना था बल्कि ऐसा महाकाव्य लिखने का संकल्प किया था जो सदा अमर रहेगा। रविवर्म्मा क्या कभी ऐसे भावपूर्ण और सुंदर मुखड़े चित्रित कर सकते यदि वे मैना बाई और हीरा बाई की बाज़ारु तसवीरें ही बना लेना अपने लिये बहुत समझते? क्या प्रसिद्ध मूर्त्तिकार म्हातरे संगमर्मर की ऐसी ऐसी सजीव मूर्त्तियां गढ़ सकते यदि उनकी टांकी काली और भैरव की भद्दी प्रतिमाओं ही तक रह जाती? नहीं, कदापि नहीं। जैसा संकल्प होगा वैसा ही कार्य्य होगा, जैसा जीवन का उद्देश्य होगा वैसा ही आचरण होगा। हमारे हृदय को सदा ज्ञान का लोलुप होना चाहिए। ज्ञान हमारा उद्देश्य होना चाहिए, ज्ञान भी ऐसा जो कर्त्तव्य-साधन में हमें समर्थ करे। इस ज्ञान की खोज में ज्यों ज्यों हम नित्य नई नई उच्चता को प्राप्त होते जॉयगे त्यों त्यों हमें ऐसा आनंद आता जायगा जो भद्दे विचार के लोगों को स्वप्न में भी संभव नहीं। जो आत्मसंस्कार द्वारा बलप्राप्त और उत्तेजित है उसके लिये विपत्ति का जंजाल वा संपत्ति का प्रलोभन क्या है? वह स्वानुभूति का सुख अनुभव करता है। विपत्ति उसे घेर सकती है पर उसकी आत्मा की अटल स्वच्छंदता को नहीं नष्ट कर

सकती। उसके कठिन और कडुए दिन आ सकते हैं पर जिस दृढ़ता के साथ वह अपने उद्देश्यसाधन में तत्पर रहता है उस में ये किसी प्रकार की बाधा नहीं डाल सकते। यह हो सकता है कि कार्य्य करने के लिये उसके पास साधन अल्प हों पर वह जो कार्य्य करेगा उसमें कार्य्यकर्त्ता के पवित्रभाव का आभास मिलेगा। इटली के एक प्रसिद्ध चित्रकार से एक सरदार ने पूछा "भाई! तुम जो रमणियों के ऐसे मनोहर भावपूर्ण मुख अंकित करते हो सो उनके आदर्श कहाँ से पाते हो?"। चतुर चित्रकार ने यह कह कर कि 'मैं अभी बताता हूं' एक भद्दी ग्रामीण स्त्री को बुलाया और उसे आकाश की ओर मुंह उठा कर बैठ जाने के लिये कहा। उसके बैठ जाने पर उसने झट झट प्रार्थना में रत एक अत्यंत सुंदरी रमणी का भावपूर्ण चित्र खींच डाला और सरदार की ओर फिर कर कहा—"पवित्र और सुंदर भाव चित्त में होना चाहिए फिर इसकी परवाह नहीं कि नमूना कैसा है"।

युवा पुरुषों के लिये अनेक प्रकार के प्रलोभन हैं जिनका उल्लेख यहां कठिन है पर जब कि मैं आत्मसंस्कार के शारीरिक, मानसिक और नैतिक तीनों विभागों पर विचार करने बैठा हूं तो मुझे उनके विषय में थोड़ा बहुत अवश्य कहना चाहिए। यहां मादकता की बुराइयों को बहुत विस्तार के साथ बतलाने की आवश्यता नहीं। शिष्ट समाज में आज कल कोई नशे में चूर होकर नहीं बैठता। नशा मनुष्य के लिये बड़ा भारी कलंक

और दोष हैं, इससे कोई युवा पुरुष किसी प्रतिष्ठित कार्य्य में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। बहुत से युवा पुरुष मादक वस्तुओं का सेवन कुछ अधिक करते हैं जिससे उनका पिछला जीवन दुःखमय हो जाता है, उनकी शक्तियां मारी जाती हैं, उनका शरीर क्षीण हो जाता है, उनकी बुद्धि मंद हो जाती है। पहले लोग दस पांच मित्रों के साथ में पड़ कर थोड़ा बहुत नशा पीते हैं, फिर धीरे धीरे उन्हें नशे का चसका लग जाता है और वे भारी पियक्कड़ हो जाते हैं। जीवन में उपयुक्त आचरण के लिये नशे से बचना बहुतही आवश्यक है। उन्मत्त मनुष्य कोई कार्य्य ठीक ठीक नहीं कर सकता। नशे का चसका बुद्धि की स्फूर्ति का नाशक, धर्म और सुनीति का नाशक तथा उदार और उच्च भावों का नाशक है। लोग गिलास पर गिलास चढ़ाने का कोई न कोई बहाना निकाल लेते हैं, यह नहीं समझते कि वे अपने आपको धोखा दे रहे हैं। नव युवक कभी नशे के फेर में इस भ्रांत विचार से भी पड़ जाते हैं कि उनके श्रांत चित्त वा मस्तिष्क के लिये किसी न किसी प्रकार का उद्दीपन चाहिए। लिखने पढ़ने के श्रम से जब उनका मन मरा जान पड़ता है तब वे समझते हैं कि थोड़ा उत्तेजक वा मादक पदार्थ सेवन कर लेने से उनका मन हरा और प्रफुल्लित हो सकता है। यह बात ऐसी ही है जैसे आग बुझाने के लिये उसमें तेल डालना। किसी युवक वा विद्यार्थी के लिये नशे का नित्य नियम नाश का घर है। इस प्रकार के कृत्रिम उद्दीपन

की वासना दिन दिन प्रबल होती जायगी, उसकी तृष्णा दिन दिन बढ़ती जायगी और फिर उसका रोकना बराबर कठिन होता जायगा। यह मैं बहुत दिनों के अनुभव की बात कहता हूं कि जो कार्य्य अपनी स्वाभाविक शक्ति से किया जाता है *उससे बढ़कर अच्छा और कोई काम नहीं होता, और उद्दीपन* का सहारा लेना बड़ा भारी दोष ही नहीं, बड़ी भारी भूल भी है।

एक विद्वान का कथन है-"इस समस्त विश्व में एक ही मंदिर है और वह मनुष्य का शरीर है। इससे बढ़ कर पवित्र और कोई मंडप नहीं। किसी महान् पुरुष को मस्तक नवाना अस्थि-मांस-मय शरीर में व्यक्त होने वाले आत्मरूप की आराधना करना है। जब हम मानव शरीर पर हाथ रखते हैं तब स्वर्ग धाम का स्पर्श करते हैं"। ठीक इसी प्रकार की एक और महात्मा की उक्ति है जिसने कहा है, "हैं! क्या तू नहीं जानता *कि तेरा शरीर उस आत्मा का पवित्र मंदिर है जो परमात्मा* का अंश है ?" कोई धर्म्मात्मा या ज्ञानवान प्राणी जो शरीर की विलक्षण बनावट के महत्व को समझता है उसे अपवित्रता की छूत से बचावेगा। स्त्रियों के लिये सतीत्व बड़ा भारी धर्म बतलाया जाता है पर पुरुषों के चरित्र दोष का विचार करने में समाज बड़ी रियायत करता है। किंतु आत्मा के मंगल के लिये, चित्त की सुव्यवस्था के लिये, आध्यात्मिक बल की रक्षा के *लिये, अकाल मृत्यु से बचने के लिये, पुरुषों के लिये सच्चरित्रता* अत्यंत आवश्यक है। निष्कलंक शरीर के भीतर शुद्ध चित्त ही

बुद्धि और विचार का, उत्तम प्रवृति और युक्त धर्म का निर्द्वंद्व गति और मृदुल चेष्टा का, सच्चे सिद्धांत और निर्मल विवेक का, भगवत्प्रेम और स्वार्थत्याग का, शांति और विश्वास का, पवित्र उपासना और आध्यात्मिक सुख का मूल है। आत्मानुभव का आनद व्यभिचार के कुत्सित आनद से कहीं बढ कर है"। सांसारिक सुख के लिये जिस प्रकार बुद्धि का ठिकाने रहना और शरीर का स्वस्थ रहना आवश्यक है उसी प्रकार चित्त का कुत्सित वासनाओं से शुद्ध रहना भी अत्यत आवश्यक है। वह जो पूर्ण पवित्रता की मूर्त्ति है व्यभिचार का कठोर दड देता है। उसके कोप का भीषण प्रभाव शरीर पर पडता है, बुद्धि पर पडता, है मस्तिष्क पर पडता है, हृदय पर पडता है और आत्मा पर पडता है। इस ससार में व्यभिचारियों की उनके दुष्कर्म्मों के लिये जो जो दुर्गतियां होती हैं यद्यपि उनका ब्योरा ठीक ठीक समझना कठिन होता है पर यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि पाप उनके शरीर को खाता चला जाता है, उनकी शक्तियों को भीतर ही भीतर क्षीण करता चला जाता है यहां तक उनकी आत्मा जर्जर और कलुषित हो कर अपनी सारी दैवी सपत्ति खो बैठती है।

धर्म और आयुर्वेद दोनों व्यभिचारी से पुकार पुकार कर कहते हैं—"समझ रख ! तेरे पाप का भडा फूटेगा। यमदूत तेरे पीछे लगा है और उसका दड तेरे ऊपर अवश्य उठेगा, चाहे जब उठे"। युवा पुरुषों से मैं बडे स्नेह के साथ कहता

हैं कि वे इस घोर सत्यानाशी दोष से बचें जो संसार में स्त्री-पुरुष के पवित्र संबंध को दूषित करता है और शुद्ध सात्विक प्रेम के मूल का नाश करता है। अश्लील हँसी, खेल शृंगार की पुस्तकें, गीत आदि कुप्रवृत्ति के साधन हैं। इनसे युवा पुरुषों को बचना चाहिए और यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि जिनका अंतःकरण पवित्र है उन्हें परमात्मा का साक्षात्कार होगा। जो अंतःकरण पवित्र है वह पाप के लेश मात्र को भीतर नहीं घुसने देता, वह सीप के समान होता है जो स्वाती की बूंद के अतिरिक्त और किसी बूंद को नहीं ग्रहण करता। एक धार्मिक महात्मा की उक्ति है—"जब फल समूचे और अखंडित रहते हैं तब तुम उन्हें अच्छी तरह संचित कर सकते हो, कुछ को भूसे में गाड़ सकते हो, कुछ को पताई और बालू के नीचे दबा कर रख सकते हो। पर जब वे एक बार चुटीले हो जाते हैं तब उन्हें बचा कर रखने का केवल एक यही उपाय है कि वे शीरे या शहद में डाल कर रख दिये जाँय। यही दशा हृदय की पवित्रता की है। यदि वह कभी खंडित या दूषित नहीं हुई तो बराबर बनी रहेगी पर यदि वह एक बार खंडित हो गई तो उसकी रक्षा का सच्ची भगवद्भक्ति के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं, जो हृदय के लिये मधु या चाशनी है"।

वही महात्मा आगे चल कर पवित्रता की रक्षा की सब से अच्छी युक्ति भी बतलाता है। वह युवा पुरुषों को ऐसी बातों से चट दूर भागने की चेतावनी देता है जो अपवित्रता की ओर

ले जाती हैं। क्योंकि यह पाप ऐसा है जो दबे पाँव प्रवेश करता है और जो थोड़े ही से बढ़ते बढ़ते बहुत हो जाता है। ऐसे पापों से भागना जितना सहज है उतना उन पर विजय प्राप्त करना नहीं। पवित्रता का उद्गम-स्थान हृदय है। दर्शन, श्रवण, कथन, घ्राण और स्पर्श में संयम का अभाव अपवित्रता है—विशेषतः जब हृदय को उससे आनंद मिलता है। यह भी याद रक्खो कि बहुत सी ऐसी बातें हैं जो स्वयं अपवित्र नहीं पर पवित्रता में धब्बा लगाता है। जिस किसी बात से पवित्रता की भावना कुंठित हो या उस पर किसी प्रकार का कल्मष चढ़े वह इसी प्रकार की है। समस्त बुरे विचार वा इंद्रियलोलुपता के प्रमाद-पूर्ण कर्म पवित्रता के नियम भंग के लिये सोपान हैं। इंद्रिया-सक्तों की संगत से बचो। ऐसा प्रसिद्ध है कि नीम आदि कड़ुए पेड़ों के पास जो फलदार पेड़ लगाए जाते हैं उनके फल कड़ुए हो जाते हैं, इसी प्रकार यह संभव नहीं कि अपवित्र और व्यभिचारी पुरुष किसी से संसर्ग रक्खे और उसकी पवित्रता को दूषित न कर दे। अस्तु, सदा सज्जन और संयमी लोगों का संग करो, पवित्र वस्तुओं का चिंतन करो। धर्मग्रंथों का अव-लोकन करो क्योंकि वे पवित्रता के स्रोत के मूल हैं। जो लोग उनका अध्ययन करते हैं उनमें पवित्रता और दृढ़ता आती है।

पांचवा प्रकरण।

अध्ययन।

यदि हम चाहते हों कि हमें कोई ऐसा चसका लगे जो प्रत्येक दशा में हमारा सहारा हो और जो जीवन में हमें आनंद और प्रसन्नता प्रदान करे, उसकी बुराइयों से हमें बचावे, चाहे हमारे दिन कितने ही बुरे हों और सारा संसार हमसे रुठा हो, तो हमें चाहिए कि हम पढ़ने का चसका लगावें। पर अध्ययन की रुचि से जो लाभ हैं वे इतने ही नहीं हैं। जिन उद्देश्यों के साधन के लिये अध्ययन किया जाता है वे इतने ही नहीं हैं इनसे अधिक हैं और इनसे उच्च हैं। आत्मसंस्कार संबंधी पुस्तक में अध्ययन को केवल एक रुचि की बात कह देना ठीक नहीं, उसे परम कर्त्तव्य निश्चित करना चाहिए क्योंकि ज्ञान की वृद्धि और धर्म के अभ्यास का अध्ययन एक प्रधान साधन है। यह ठीक है कि बहुत से ऐसे कर्मण्य पुरुष हुए हैं जो बड़े बड़े काम कर गए हैं, पर वे लिखना पढ़ना नहीं जानते थे। बहुत से लोग हो गए हैं जिनके पठन पाठन या मानसिक शिक्षा के अभाव की पूर्त्ति उनकी प्रज्ञा की प्रतिभा, अनुभव की अधिकता और अन्वीक्षण के अभ्यास द्वारा हो गई थी। पर पहली बात सोचने की यह है कि यदि वे पढ़े लिखे होते,

उनकी जानकारी और अधिक होती तो संभव है वे और अधिक उत्तम कार्य्य कर सकते। दूसरी बात यह है कि स्वाध्याय और आचरण आदि के संबंध में जो नियम ठहराए जाते हैं वे ऐसे इक्के दुक्के लोगों के लिये नहीं जिन्हें जन-साधारण से अधिक स्वाभाविक शक्तियां प्राप्त रहती हैं।

आत्मसंस्कार के विधान का स्वाध्याय एक प्रधान अंग है। हमारे लिये किसी जाति के उस साहित्य में गति प्राप्त करने का और कोई द्वार नहीं जिसमें उसके भाव और विचार व्यक्त रहते हैं तथा उसकी उन्नति के क्रम का लेखा रहता है। मनुष्य जाति के सुख और कल्याण के विषय में संसार के प्रतिभासम्पन्न पुरुषों ने जो सिद्धांत स्थिर किए हैं उन्हें जानने का और कोई उपाय नहीं। जो मनुष्य पढ़ना नहीं जानता उसे भूत काल का कुछ ज्ञान नहीं, वह जो कुछ सोचता है; विचारता है, परीक्षा करता है, वह अपनीही छोटी सी पहुंच और अपने ही अल्प साधनों के अनुसार, उसे उस भांडार का पता नहीं जो न जाने कितनी पीढ़ियों से संचित होता आया है। एक प्रसिद्ध गणितज्ञ के विषय में कहा जाता है कि जब वह लड़का था और उसे पुस्तकों की जानकारी नहीं थी तब उसने गणित की कुछ प्रक्रियाएं निकालीं और उन्हें यह समझ कर काग़ज़ पर लिख लिया कि मैंने बड़े भारी आविष्कार किए। कुछ दिनों के उपरांत जब वह एक बड़े पुस्तकालय में गया तब उसे यह जान कर बड़ा दुःख हुआ कि जिन्हें वह

इतने दिनों से अपने आविष्कार समझे हुए थे ये साधारण छात्रों को ज्ञात पुरानी और पिष्टपेषित बातें हैं। विद्या के प्रत्येक विभाग में यही दशा उस की होती है जो पढ़ता नहीं। मनुष्य की अन्वेषण और विचार परंपरा ज्ञान की किस सीमा तक पहुंच चुकी है उसकी उसे ख़बर नहीं रहती। उसके लिये उस-के पूर्व का काल अंधकार मय है। न जाने कितने लोग हो गए, कैसे कैसे विचार कर गए, पर उसे क्या? वह जो सामने देखता है वही जानता है, और शिक्षा के अभाव के कारण वह अच्छी तरह देख भी नहीं सकता। वह अपने ही फैलाए हुए अंधकार में गिरता पड़ता है, टेढ़ी मेढ़ी पगडंडियों में भटकता फिरता है, यह नहीं जानता कि मनुष्यों के श्रम से एक चौड़ा सीधा मार्ग तैयार हो चुका है।

यहां हम पढ़ने के दो एक अत्यंत प्रत्यक्ष लाभों की ओर ध्यान देते हैं। यह विषय जैसा उपयुक्त है वैसा ही मनोरंजक भी है। पहली बात तो यह कि पढ़ने से इतिहास और काव्य में हमारी गति होती है और भूत काल की घटनाएं हमारे हृदय में प्रत्यक्ष हो जाती हैं। इसके द्वारा हमें संसार के बड़े बड़े राज्यों की उत्पत्ति, वृद्धि और पतन का पता चलता है। पढ़ने से हमें विदित होता है कि किस प्रकार मनुष्य जाति की सभ्यता का प्रवाह कभी कुछ दिनों के लिये रुकता, कभी पीछे हटता हुआ, कभी एक स्थान में बँधता, कभी दूसरे स्थान पर बहुरता हुआ, कभी कुछ दिनों के लिये उथला और छिछला पड़ कर फिर

अनिवार्य्य वेग के साथ बढ़ता और गंभीर होता हुआ अखंड अंततः आगे ही बढ़ता आया है और उसने अपनी सुख समृद्धि रूप विजय का प्रसार किया। हम जानते हैं कि किस प्रकार अनेक विघ्न बाधाओं को सह कर कितने ही दिनों तक भयानक कष्टों और आपत्तियों को झेल कर जनता ने क्रमशः अपनी उन्नति की है जिसका फल यह हुआ है कि प्रत्येक सभ्य देश के गरीब आदमी अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक सुख चैन से हैं। हम जानते हैं कि किस प्रकार संसार की अनेक क्रूर और धर्मभाव शून्य जातियां बौद्ध धर्म ग्रहण करने को तैयार हुईं, किस प्रकार बौद्ध धर्म का प्रभाव और प्रचार बढ़ा तथा उससे मनुष्यों की रहन सहन में कितना शुभ परिवर्तन हुआ। पुस्तकों में हम देखते हैं कि किस प्रकार प्रताप और शक्ति एक जाति से निकल कर दूसरी जाति में जाती है, उसमें यह भी पता लगता है कि किन किन कारणों से और किन किन दशाओं में ऐसा होता है। भारतवर्ष, पारस, काबुल, मिश्र, यूनान, रोम जो अब नाम ही नाम को रह गए हैं। कल्पना में जिनके प्रताप और महत्व की धुंधली छाया मात्र शेष रह गई है, पुस्तकों के द्वारा वे हमें अपने यथार्थ रूप में प्रकट होते हैं और हम उनकी यथार्थ स्थिति को समझने में समर्थ होते हैं। इन प्राचीन देशों की ओर जब हम ध्यान देते हैं तब हम दिनों के फेर को सोचते हैं, भाग्य की चंचलता को सोचते हैं और व्यक्ति के जीवन क्रम और एक जाति के भाग्य-क्रम के बीच जो विलक्षण समानता है उस पर

विचार करते हैं । एक धार्मिक उपदेष्टा कहता है कि "चाहे एक व्यक्ति को लो चाहे एक जाति को लो सब से समृद्धि के दिन प्रायः वेही होते हैं जिनके पीछे घोर विपत्ति के दिन आते हैं"। चाहे चंद्रगुप्त, सिकंदर, बैगुसरो, तैमूर, आदि बड़े बड़े विजेताओं को लो, चाहे हस्तिनापुर पाटलिपुत्र, एथेंस, रोम आदि की ओर ध्यान दो, बात एक ही होगी। अपनी रक्षा के निश्चय ही में नाश का अंकुर रहता है, अपने पराक्रम की भावना और उसे दिखाने की वासना ही से पतन भी होता है। भाग्य के इस अचानक पलटा खाने पर हमें ध्यान देना चाहिए, पर सब से अधिक ध्यान तो हमें इस विश्वव्यापक नियम की ओर देना चाहिए कि प्रौढ़ता और शक्ति के पीछे के दिनों में जीव में भीतर ही भीतर भोग विलास, अनीति, और दुर्व्यसन का घुन शक्ति को खाने लगता है, अधिक तड़क भड़क और शान दिखाई पड़ती है, यहां तक कि बाहर से देखने वालों को शक्ति की स्थिरता का अधिक विश्वास होता है। लोक में कहावत प्रसिद्ध है कि जब दीपक बुझने को होता है तब अधिक जगमगाता और भभकता है। पारसियों का प्रताप इतना प्रबल और कभी नहीं दिखाई पड़ा था जितना उस समय जब क्षयार्श ने अपनी असंख्य सेना ले कर यूनान पर चढ़ाई की थी, पर यथार्थ में पारसी जाति की शक्ति उस समय इतनी क्षीण हो गई थी कि थोड़े ही आघात से ध्वस्त हो सकती थी। जिस समय नेपोलियन अपनी चार लाख सेना ले

कर यूरप को विजय करने की कामना से रूस की ओर चढ़ा था उस समय सारा यूरप कांप उठा था, पर सच पूछिए तो भीतर ही भीतर उसके विनाश के सामान इकट्ठे हो रहे थे। औरंगज़ेब के राजत्व काल में मोगल साम्राज्य अपने पूर्ण विस्तार को पहुंच गया था पर इतिहासविज्ञ मात्र जानते हैं कि वह वास्तव में उसके खंड खंड होने का आयोजन मात्र था। जिस समय महाराज पृथ्वीराज दिल्ली के राजसिंहासन पर थे उस समय राजपूतों की शक्ति पराकाष्ठा को पहुंची जान पड़ती थी पर देखते ही देखते वह शक्ति विलीन हो गई और हिंदू साम्राज्य का अंत हो गया।

इतिहास की उस अस्थिरता का, जिसका परिज्ञान हमें पुस्तकों द्वारा होता है, एक और भी दृष्टांत दिया जा सकता है। विद्याभ्यासी युवक यदि संसार की बड़ी बड़ी राजधानियों के इतिहास को उनके राज्यों के इतिहास से मिलान करेंगे तो उन्हें जान पड़ेगा कि एक ओर तो उन राज्यों की शक्ति क्रमशः क्षीण हो रही थी दूसरी ओर उन राजधानियों की शोभा पूर्ण समृद्धि को पहुंची दिखाई पड़ती थी। जब अवध के नवाबों का प्रताप प्रस्थान कर चुका था, जब वे अपने राज्य की स्थिति के लिये दूसरी राज-शक्ति का मुंह ताकने लगे थे, जब उनमें अपना बल कुछ भी नहीं रह गया था, जब क्षमताहीन विलास-परायण वाजिदअली शाह सहस्त्रों रमणियों से घिरे हुए मोतियों की राख फांकते थे उस समय लखनऊ के जोड़ का और दूसरा

नगर भारतवर्ष में नहीं था। यहां आठों पहर सोना बरसता था, गोमती के किनारे छतरमंजल शीशमहल आदि को देख आंखों में चकाचौंध होती थी। नादिर शाह के आक्रमण के समय मुहम्मद शाही में दिल्ली की जो रौनक़ थी, वह फिर कभी काहे को दिखाई देगी। जिस समय महमूद ने हिंदुस्तान की ओर यात्रा की उस समय फूट आदि के कारण हिंदुओं की राजनैतिक शक्ति बिलकुल क्षीण हो चुकी थी पर मथुरा, सोमनाथ आदि तीर्थस्थानों का ठाटबाट और वैभव वर्णन के बाहर था। जिस समय बादशाह बेलशाज़र अपने विशाल भवन में बैठा हुआ दीवार पर अपने भाग्य-लेख को पढ़ रहा था, और विजयी पारसियों की विजय-दुंदभी का तुमुल शब्द सुन रहा था उस समय बाबुल की शोभा अपनी पराकाष्ठा को पहुंच चुकी थी।

इतिहास की पुस्तकों से पाठकों को एक अत्यंत अनमोल शिक्षा मिलती है। मनुष्य-जाति के मामलों में परमेश्वर किस प्रकार समय समय पर हाथ डालता है वे स्पष्ट देखते हैं। पर आधुनिक कोटि के इतिहासवेत्ता इस बात को देख कर भी इससे अनभिज्ञ बनते हैं। वे प्रत्येक कार्य या घटना के कारण का पता विकास-सिद्धांत अथवा निज-कल्पित नियमों द्वारा लगाने का दम भरते हैं। पर यह बात ऐसी प्रत्यक्ष है कि इस पर धूल नहीं डाली जा सकती। यह संसार के इतिहास में अमिट अक्षरों में अंकित है। थोड़ा उन घटनाओं पर ध्यान दीजिए

जिनके सहारे छत्रपति महाराज शिवाजी एक बड़े साम्राज्य के संस्थापक हुए थे और देखिए कि किस प्रकार वे दैव-प्रेरित जान पड़ती हैं। भारत के इतिहास में मगध का अंध्रराज वंश प्रसिद्ध है। इसके शूद्र संस्थापक ने कण्व वंश के अंतिम राजा को धोखे से मार कर मगध का राजसिंहासन प्राप्त किया था। इस वंश का राज्य बहुत दिनों तक नहीं चला। इसका अंतिम राजा पुलोम गंगा में डूब कर मरा। फिर वही दशा इस वंश की हुई जो इसके संस्थापक ने कण्ववंश की की थी। पुलोम का सेनापति रामदेव राजा बन बैठा। पर उसे इसका ठीक ज्यों का त्यों प्रतिकार ईश्वर की ओर से मिला। इसका सेनापति प्रतापचंद्र उसे गद्दी पर से हटा कर राजा हुआ। इस प्रकार यह प्रतिकार-परंपरा शताब्दियों तक चली, और एक सेनापति के पीछे दूसरा सेनापति राजा बनता रहा। ये सेनापति राजा इतिहास में अंध्रभृत्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। देश द्रोही जयचंद ने द्वेष से प्रेरित होकर पृथ्वीराज की शक्ति को ध्वस्त करने की कुटिल कामना से मुसलमानों को बुलाया पर कुछ दिन भी वह अपने इस घोर पाप का सुख न भोग सका। दो ही वर्ष के भीतर उसी सेना ने जिसे उसने अपने देश भाइयों का रक्त बहाने के लिये बुलाया था उसको रणभूमि में सुला कर उसका सर्वस्व हरण किया और द्रोह का भयंकर परिणाम भारतवासियों को दिखला दिया। भारतवासियों की धर्म-प्रवृत्ति का बौद्ध धर्म द्वारा जो संस्कार हुआ उसे देखने से

स्पष्ट झलकता है कि किस प्रकार मनुष्यों के आचार व्यवहार और रीति नीति में अनुकूल परिवर्त्तन उपस्थित करने के लिये परमात्मा की प्रेरणा से एक नई शक्ति खड़ी हो जाती है। जिस समय भारतवासी अपना सारा धर्म पुरुषार्थ वैदिक कर्मकांड की जटिल क्रियाओं में समझने लगे थे उस समय उन्हें परोपकार और दया धर्म की ओर फिर से प्रवृत्ति देने के लिये भगवान् बुद्ध का अवतार हुआ। अग्निष्टोम, वाजपेय, दर्शपौर्णमास आदि का जितना फल समझा जाता था उतना ही फल कुआं तालाब खुदवाने बाग लगाने आदि का भी समझा जाने लगा। यह ठीक है कि परमात्मा का विस्तृत उद्देश्य कभी कभी हमारे संकुचित उद्देश्य से भिन्न होता है जिससे हमारे मन में अनेक प्रकार की शंकाएं उठती हे। हम जैसा होना न्याय समझते हे वैसा होते न देख ईश्वर के विषय में अनेक प्रकार के संदेह करने लग जाते हैं। पर यदि विचार कर देखिए तो इतिहास में चारों ओर परमेश्वर की प्रेरणा का आभास मिलता है। कितनी छोटी छोटी बातों से ससार में कितने बड़े बड़े परिवर्तन उपस्थित हुए हें यह प्रत्येक इतिहास विज्ञ मनुष्य को विदित है। जहां एक शक्ति का पतन और नाश होता है वहां दूसरी शक्ति का उदय और उत्थान होता है। अव्यवस्था उपरांत व्यवस्था स्थापित होती है, अंधेर के पीछे सुनीति का सचार होता है, दुर्बलता के पीछे बल आता है। बड़े बड़े प्रचीन राज्यों के खड़हरों की ईंटों को जोड बटोर कर

नए नए अधिक बल वैभव सम्पन्न साम्राज्य खड़े होते हैं। मिश्र, काबुल, फ़ारस आदि के अवशिष्टांश से यूनान की सभ्यता का विकास हुआ, यूनान की खंडित शक्ति से रोम राज्य खड़ा हुआ और रोम राज्य के छितराए खंडों से यूरप की आधुनिक राजनैतिक शक्तियों की स्टष्टि हुई।

इस विषय पर विचार करते हुए पाठकों को थोड़ा मोगल बादशाह औरंगजेब के धर्मांध शासन पर ध्यान देना चाहिए। मोगल राज्य औरंगजेब के समय में उन्नति की चरम सीमा को पहुंचा। औरंगजेब मदांध होकर दक्षिण की बीजापुर आदि ग़रीब रियासतों को हड़प करने के लिये बढ़ रहा था, पर बीच ही में यह क्या हुआ? शिवाजी रूपिणी एक महाशक्ति ने दीनदार औरंगजेब के गले रोजा मढ़ दिया! औरंगजेब के पहले सिक्ख जाति एक धार्मिक मंडली मात्र थी। पर जब औरंगजेब की धर्मांधता हद को पहुंच गई और सिक्ख लोग सताए जाने लगे तब सिक्ख जाति ने अपने हाथ में अस्त्र लिया और औरंगजेब के सामने ही गुरु गोविंदसिंह ने सिक्खों की उस भावी शक्ति का आभास दे दिया जिसने सारे पंजाब में विजय का डंका बजा कर अफ़ग़ानिस्तान के पठानों को भी कँपा दिया। जिस समय नेपोलियन सारे यूरप को ध्वस्त करने की कामना से चार लाख सेना लेकर रूस की ओर बढ़ा उस समय उसकी क्या गति हुई? उसके लाखों सिपाही तूफान और बर्फ़ में गल कर मर गये, न जाने कितनों ने भूख और प्यास से तड़फ तड़फ

कर अपने प्राण दिये, और वह अपना सा मुंह लेकर बड़ी कठिनता से लौट सका।

पढ़ने से और और जो लाभ हैं अब मैं उन्हें थोड़े में कहना चाहता हूं। अध्ययन के द्वारा हम घर बैठे बड़े बड़े धुरंधर विद्वानों के गंभीर विचारों को जान सकते हैं, संसार के प्राचीन महापुरुषों के सत्संग का लाभ उठा सकते हैं। अध्ययन द्वारा हम ज्ञान के श्रोत तक बराबर पहुंच सकते हैं, चाहे ज्ञानदाता जिस स्थान पर हो और जिस काल में हुआ हो। इस विषय में दिक् और काल कोई बाधा नहीं डाल सकते। अध्ययन के द्वारा हम वाल्मीकि, व्यास और गौतम,से उतने ही परिचित हो सकते हैं जितने उनके समकालीन थे। अध्ययन हमें भारतवर्ष के अतुल ज्ञान भांडार से संतुष्ट कर सकता है, यूनान रोम आदि की विचार-परंपरा से परिचित कर सकता है, अरब फ़ारस आदि की भावुकता का अनुभव करा सकता है। भवभूति को हम मृत कैसे समझें जब कि वह 'उत्तररामचरित' द्वारा हमें अपनी मधुर वाणी सुना रहे हैं। क्या कालिदास.के लिये उज्जयिनी में सिप्रा के किनारे जाकर हमारा आंसू बहाना ठीक है जब कि अपने अलौकिक काव्य द्वारा वे हमारे सामने उपस्थित हैं। थोड़ा सोचिये तो कि इससे बढ़कर आनंद और क्या हो सकता है कि हम अपनी कोठरी में ऐसे ऐसे साथियों को लिये आराम के साथ लेटे हैं जैसे कालिदास, भवभूति, चंदबरदाई, तुलसी, रहीम। हमारा जब जी चाहता है तब हम जायसी की कहानी

सुन कर अपना समय काटते हैं, जब मन में आता है अंधे सूर के प्रेम और चतुराई से भरे पद सुन कर रसमग्न होते हैं, कभी कल्पना में चित्रकूट के घाट पर बैठे राम लक्ष्मण का दर्शन करते हुए गोस्वामी तुलसीदास जी की गंभीर गिरा से अपने उद्विग्न मन को शांत करते और मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचंद्र का चरित्र देख पुलकित होते हैं। एक कोने में कबीर अपनी एड़ी बेड़ी बानी और 'सबद साखी,' द्वारा पंडितों और मुल्लाओं को फटकारते बैठे हैं। कहीं बौद्धों से झगड़ते झगड़ते थक कर सिर पर हाथ दिए अद्वैतवादी शंकराचार्य्य संसार को मिथ्या बतला रहे हैं, कहीं भूषण जी मरहट्टों के बीच बैठे अन्याय-दमन की उत्तेजना दे रहे हैं। इसी प्रकार की एक खासी मंडली जहां लगी हुई है वहां और कोई साथी न रहे तो क्या ?

पुस्तकों के द्वारा किसी महापुरुष को हम जितना जान सकते हैं उतना उसके मित्र क्या पुत्र कलत्र भी नहीं जान सकते। चाणक्य पर जितना उसके पाठक विश्वास करते हैं उतना उसके समय के लोग न करते रहे होंगे, उसकी बात चीत में वे खरी खरी बातें न आती रही होंगी जो उसके लेखों में आती हैं। ग्वाल आदि शृंगार के कवियों से पाठकों के चरित्र और भाव जितने दूषित हो सकते हैं उतने उनके पास बैठने वालों के न होते रहे होंगे। जो ग्रंथकार अपने जीवन काल में आस पास के लोगों से बोलने चालने में बहुत संकोच

करते थे अध्ययनशील पुरुष के निकट एकांत में वे अपनी पुस्तकों द्वारा अपने हृदय के सारे भावों को बेधड़क खोल कर प्रगट कर देते हैं। उनकी पुस्तकों द्वारा हम उन्हें पूर्णरूप से देखते हैं, उनकी सारी प्रकृति हमारे सामने आ जाती है, कोई बात छिपी नहीं रहती। चाणक्य के महत्व को जितना हम आजकल के लोग समझ सकते हैं उतना उसके समकालीन लोग नहीं समझ सकते थे। वे उसके गुण के प्रत्येक अंग को, उसकी स्थिति के पूर्ण रूप को नहीं देख सकते थे। यदि किसी पर्वत के आकार और विस्तार को पूर्ण रूप से देखना चाहो तो तुम्हें उससे कुछ दूर जा कर खड़ा होना होगा। इसी प्रकार हम उससे २००० वर्ष पीछे हट कर उसके "अर्थशास्त्र" और "नीति" द्वारा तथा इतिहास में उसकी कृतियों को देख उसकी बुद्धि की सूक्ष्मता, और तत्परता का पूर्ण अनुमान और उसके बतलाए हुए आदर्श राज्य की भावना का पूरा अनुभव कर सकते हैं।

जो विद्याभ्यासी पुरुष पढ़ता है और पुस्तकों से प्रेम रखता है, संसार में उसकी स्थिति चाहे कितनी ही बुरी हो, उसे साथियों का अभाव नहीं खल सकता। उसकी कोठरी में सदा ऐसे लोगों का वास रहेगा जो अमर हैं। वे उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करने और उसे समझाने के लिये सदा प्रस्तुत रहेंगे। कवि, दार्शनिक और विद्वान् जिन्होंने अपने घोर प्रयत्नों द्वारा प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करके शांति और

सुख का तत्त्व निचोड़ा है, बड़े महात्मा जिन्होंने आत्मा के गूढ़ रहस्यों की थाह लगाई है सदा उसकी सुनने तथा उसकी शंकाओं का समाधान करने के लिये उद्यत रहेंगे। यदि पाठक चाहें तो उनमें से प्रत्येक व्यक्ति उसको तुच्छ चिंताओं से मुक्त करके ऐसी भावमयी सृष्टि में ले जाने के लिये तैयार रहेगा जहां सांसारिक प्रपंचों का लेश नहीं। चाहे कितनी घोर निस्तब्धता हो उसे प्रकृति का मधुर और रहस्यपूर्ण संगीत कानों में पड़ेगा, कोमल और गंभीर वचन सुनाई पड़ेगा। कालिदास अपनी अलौकिक प्रतिभा के बल उसे मेघ के साथ अलकापुरी में पहुंचावेंगे, जहां—

नित पोन के पेरे किते बहु बादर घूमत घूमत आवत हैं।
जल बूंदन की बरखा करिके अँगनान के चित्र मिटावत हैं।
भयभीत से फेरि झरोखन ह्वै सिमटे तन बाहर धावत हैं।
कढ़ि जान को वेगि धुआं बनि के बड़े चातुर वे कहावत हैं।

अथवा भवभूति के साथ जाकर उस दंडक वन में थोड़ा विश्राम पावेंगे, जहां—

कहुं सुंदर घनश्याम कतहुं धारे छवि घोरा।
कहुं गिरि खोहन गूंजि बढ़त झरनन कर सोरा।
सुनसान कहुं गंभीर वन, कहुं सोर वनपसु करत हैं।
कहुं लपटि निसरत सुस अजगर सांस सन तरु जरत हैं।
गिरि खोह महं कछु जल भरे कहुं छुद्र खात लखात हैं।
अहि स्वेद गिरगिट पियत तहँ जब प्यास मन घबरात हैं।

तुलसीदास उसे अपने साथ गंगा उतर कर वन की ओर जाते हुए राम लक्ष्मण को दिखावेंगे जिनके अलौकिक सौंदर्य्य के कारण

गाँव गाँव अस होइ अनंदू।
देखि भानुकुल कैरव चंदू॥
जो यह समाचार सुनि पावहिं।
ते नृप रानिहि दोष लगावहिं॥

और कहते हैं—

धन्य भूमि वन पंथ पहारा।
जहं जहं नाथ पाँव तुम धारा।
धन्य विहग मृग कानन चारी।
सफल-जनम भे तुमहिं निहारी॥
हम सब धन्य सहित परिवारा।
दीख दरस भरि नयन तुम्हारा॥

जायसी उसे कलिंग देश में ले जाकर जहाज़ पर चढ़ावेगा और राजा रतनसेन के साथ सिंहलद्वीप में उतार कर प्रेमपथ का माधुर्य्य और त्याग दिखावेगा, फिर चित्तौर गढ़ लाकर चिता पर बैठी पद्मावती (पद्मनी) के सतीत्व की अद्भुत दीप्ति का दृश्य सम्मुख करेगा। चंदबरदाई उसे प्राचीन काल के सूर सामंतों की आन और नोक झोंक दिखावेगा। इस प्रकार विद्याभ्यासी पुरुष बड़े बड़े लोगों की प्रतिभा से अपने भावों को पुष्ट करेगा। प्रत्येक युग और प्रत्येक देश के महान् पुरुष

उसके सामने हाथ बांधे इस प्रकार खड़े रहेंगे जिस प्रकार मंत्र-वेत्ता के आह्वान पर देवता उपस्थित होते हैं।

पढ़ते समय हमें विद्वान और प्रतिभाशाली पुरुषों के मनोहर वाक्यों को, उनकी चमत्कारपूर्ण उक्तियों और विचारों को मन में संचित करते जाना चाहिए जिसमें हमारे पास ज्ञान का एक ऐसा प्रचुर भांडार हो जाय कि उसमें से समय समय पर जब जैसा अवसर पड़े हम शांति, उपदेश और उत्साह प्राप्त कर सकें। इस प्रकार का भांडार अधिकार में रखना उपयोगी और आनंदप्रद दोनों है। बहुत से ऐसे अवसर आपड़ते हैं जब हमारा जी टूट जाता है और हमारी शक्ति शिथिल हो जाती है। सोचिये तो कि ऐसे अवसरों पर किसी ऐसे पुरुषार्थी महात्मा के उत्साहपूर्ण वचनों से कितना उत्साह प्राप्त होगा जिसने कठिन संकट और विघ्न सहे पर अंत में अपने अध्यवसाय के बल से सिद्धि प्राप्त की। इस वचन से कितना उत्साह मिलता है।

छाड़िए न हिम्मत, विसारिये न हरि नाम,
जाही विधि राखै राम, वाही विधि रहिये।

प्रयत्न में हताश वा दुखी व्यक्ति को कितना धैर्य्य बँध सकता है यदि उसे किसी ऐसे महात्मा के वचन सुनने को मिलें जो दुख पड़ने पर कहता है—"ईश्वर चाहता है कि हम इस दशा में रहें, हम इस कर्त्तव्य को पूरा करें, हम इस व्याधि को भोगें, हम इस विपत्ति में पड़ें, हम यह अपमान और ताप

सहें। ईश्वर की जैसी इच्छा! ईश्वर की यही इच्छा है, हम या संसार चाहे जो कुछ कहे। उसकी इच्छा ही हमारे लिये परम धर्म्म है"। बहुत से अवसर आते हैं जब दूसरों की इच्छा के अनुसार कार्य्य करना, दूसरों की अधीनता स्वीकार करना अभिमानी युवकों को बड़ा कडुआ जान पड़ता है। ऐसे अवसर पर यदि वे इस बात का स्मरण करलें तो बहुत ही अच्छा है कि संसार में जितने बड़े बड़े विजयी हुए हैं वे आज्ञा मानने में वैसे ही तत्पर थे जैसे आज्ञा देने में। बहुत से ऐसे अवसर आते हैं जब सत्य के मार्ग पर स्थित रहने की उचित दृढ़ता हमें नहीं सूझती और हम चट पट आवेश में आकर काम करना चाहते हैं। ऐसे अवसरों पर हमें गिरिधर की इस चेतावनी का स्मरण करना चाहिए।

विना विचारे जो करै सो पाछे पछिताइ।
काम विगारै आपनो जग में होत हँसाइ॥

अस्तु, पढ़ने का एक लाभ तो यह हुआ कि उससे हम समय पड़ने पर शिक्षा, उत्साह, और शांति प्राप्त कर सकते हैं। उसके द्वारा हमें ऐसे ऐसे अस्त्र प्राप्त होते हैं जिन्हें लेकर जीवन के भीषण संग्राम में हम अपनी थाप रख सकते हैं। उससे हमें उत्तम और उत्कृष्ट विचारों का आभास तथा उत्तम कार्य्यों में उत्तेजना मिलती है। एक बार एक सरदार ने राजा की इच्छा के विरुद्ध कोई उचित और न्याय संगत कार्य्य करने के विषय में दूसरे सरदार से परामर्श करते हुए

कहा, "पर महाशय राजाओं का क्रोध आप जानते हैं, मृत्यु सामने रक्खी है"। दूसरे सरदार ने चट उत्तर दिया "तब तो मुझमें और आपमें केवल इतनाही अंतर है कि मैं आज मरूंगा और आप कल। इस "अभिप्रायगर्भित" वाक्य से किसका उत्साह नहीं बढ़ेगा, किसका चित्त दृढ़ नहीं होगा? कोई छोटा है या बड़ा, यह कोई बात नहीं, मुख्य बात यह है कि जो जिस श्रेणी में है उसके धर्म का पालन करता है या नहीं। साधारण विद्या बुद्धि का मनुष्य भी यदि सर्य्यादा का ध्यान रखते हुए धर्मपूर्वक अपना कार्य्य करता जाय तो वह उसी प्रकार सफल-मनोरथ हो सकता है जिस प्रकार कोई बड़ा बुद्धिमान मनुष्य। इस विषय पर मुझे बहुत कहने की आवश्यकता नहीं। पढ़ने का बड़ा भारी अलभ्य और मनोहर लाभ यह है कि उससे चित्त शुभ भावनाओं और प्रौढ़ विवेचनाओं से पूर्ण हो जाता है। जब कभी जी चाहे मनुष्य चुपचाप बैठ जाय और जो कुछ उसने पढ़ा हो उसका चिंतन करते हुए उपयोगी और आनंदप्रद विचारों की धारा में मग्न हो जाय, इसके लिये उसे किसी प्रकार के बाहरी आधार की आवश्यकता नहीं। खाली बैठ रहने के समय—जैसे रेल नौका आदि की यात्रा में—हमारे लिये यह एक अच्छा लाभकारी मानसिक व्यायाम रक्खा हुआ है कि हम किसी अच्छे ग्रंथकार की कोई पुस्तक उठा लें और उसकी बातों को, उसकी चमत्कारपूर्ण युक्तियों को तथा उसके मनोहर दृष्टांतों को हृदय में इस क्रम से धारण करते जांय कि जब

अवसर पड़े तब हम उन्हें उपस्थित कर सकें। हृदय का यह भांडार ऐसा होगा जो कभी ख़ाली न होगा, दिन दिन बढ़ता जायगा। इस प्रकार हृदय में संचित किये हुए भाव और दृष्टांत मोतियों के समान होंगे जिनकी आभा कभी नष्ट वा क्षीण नहीं होती।

पढ़ने से हमारे व्यवसायों की बुराइयों और प्रलोभनों का, हमारे आचार व्यवहार की त्रुटियों का, हमारे समय की कु-प्रवृत्तियों का जो निराकरण होता है वह भी थोड़ा लाभ नहीं है। इस विषय में अध्ययन औषधोपचार का काम करता है। जो लोग दिन भर ऐसे कामों में हैरान रहते हैं जिनमें कठिन तर्क वितर्क और सूक्ष्म विवेचना की आवश्यकता होती है उन्हें चाहिए कि जब अवकाश मिले तब वे विस्तृत कल्पना वाले लेखकों की भावमयी रचनाओं का अवलोकन करें। पर जहां तक देखा जाता है ऐसे लोग उत्कृष्ट कल्पना-पूर्ण रचनाओं और काव्यों से दूर भागते हैं, वे यह नहीं समझते कि उन्हें ऐसी पुस्तकों के अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है। क्योंकि जो अपने समस्त जीवन का संस्कार करना चाहता हो उसे अंतःकरण की ऐसी शक्तियों का अभ्यास रखना चाहिए जिनका काम उसे अपने नित्य के व्यवसाय में नहीं पड़ता अथवा जिनके व्यवहार की ओर उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती। तर्क-शास्त्र का अभ्यास ऐसे लोगों के लिये बहुत उपयोगी होगा जो प्रमाणपूर्वक यथातथ्य बात कहने तथा प्रौढ़ युक्ति देने में

अनभ्यस्त हैं। जो जटिल विवेचना और कठिन मानसिक प्रयास में व्यस्त रहते हैं काव्यों के अवलोकन से उनके चित्त को बहुत विश्राम और आनंद मिलेगा। बहुत से लोगों के लिये ऐतिहासिक पुस्तकें औषध और पुष्टई का काम करेंगी। विशेष विशेष पुस्तकें विशेष विशेष अवस्थाओं के लिये उपयोगी होंगी। नाचरंग और भोग विलास की प्रवृत्ति का संशोधन भर्तृहरि के नीति और वैराग्य शतक तथा केशव की विज्ञान-गीता आदि से हो सकता है। जिसमें प्राकृतिक दृश्यों के सौंदर्य्य अनुभव की क्षमता नहीं उसमें कालिदास और भवभूति की वाणी सुनते सुनते यह क्षमता आ जायगी। प्रत्येक अवसर और प्रत्येक दशा के लिये वाल्मीकि का महाकाव्य उपयुक्त होगा। जो हर समय उदासीन और मुंह लटकाये रहते हैं उनकी दवा भारतेंदु हरिश्चंद्र और प्रतापनारायण मिश्र के नाटकों तथा बंगाली लेखक दीनबंधु मित्र के उपन्यासों से हो सकती है। मानसिक विकारों के लिये पुस्तकें बहुत ही उपयुक्त औषध हैं। जिनका चित्त अपने आसपास के व्यापारों को दिन रात देखते देखते ऊब गया हो उन्हें चाहिए कि वे अद्भुत घटनाओं और वृत्तांतों से पूर्ण यात्रा की पुस्तकें पढ़ें। इससे उनका चित्त बहल जायगा और उनमें फुरती आ जायगी। 'चीन में तेरह मास,' 'भारत भ्रमण' 'कोलंबस की यात्रा' आदि को हाथ में लेकर जब वे चीन, लंका, अमेरिका की बैठे बैठे सैर करेंगे तब वे अपने को कारागार से मुक्त हुआ समझेंगे और

सृष्टि के विस्तार को देख प्रसन्न होंगे। संकीर्ण भाव के लोगों के आगे इतिहास की पोथियां खोल कर रखनी चाहियें। एक ग्रंथकार कहता है—"मुझे स्मरण आता है कि मैंने एक बार ऐसे पुरुष को जो पत्नी के मरने पर उसके वियोग में दिन दिन घुलता जाता था और किसी प्रकार की दवा दारु के पास नहीं जाता था भूगर्भशास्त्र की दस पांच बातें सुनाकर चंगा कर दिया। मैंने तो यह सोचा है कि जिस प्रकार पुस्तकालयों में लोग विषय के अनुसार दर्शन, गणित, इतिहास, काव्य, विज्ञान आदि लिख कर आलमारियों पर चिपकाते हैं मैं उसी प्रकार जिन जिन रोगों के लिये जो जो पुस्तकें उपकारी हों उनकी आलमारियों पर उन्हीं रोगों के नाम काश, ज्वर, शोकोन्माद आदि लिख कर लगा दे। आगे चल कर वही ग्रंथकार थोड़ा गंभीर हो कर फिर कहता है "जब कोई एक ऐसा दुःख तुम्हारे चित्त में समा जाता है जिसका निराकरण हो सकता है—और तुम यह समझने लगते हो कि जब ईश्वर ने इस एक सुख से तुम्हें वंचित रक्खा तो फिर जीवन व्यर्थ है, तब तुम्हारे लिये अच्छा यह होगा कि तुम बड़े बड़े पुरुषों के जीवनचरित हाथ में लो। फिर देखो कि उनमें एक पृष्ठ भी ऐसा न मिलेगा जिसमें किसी तुम्हारे ऐसे दुःख का पचड़ा गाया गया हो। प्रत्येक पृष्ठ में बराबर जीवन में अग्रसर होने जाने की बात मिलेगी, तुम पर जहां कोई दुःख पड़ा तुम समझते हो कि बस तुम बिना हाथ पैर के हो गये, तुम्हारी कमर टूट गई। नहीं

कभी नहीं! तुम्हारे हाथ पैर टूटे नहीं उनमें झुनझुनी चढ़ गई है। जीवनचरित में तुम देखोगे कि किस प्रकार दुःखों को लांघता फांदता महान् पुरुष का जीवन आगे बढ़ता गया है"।

मनुष्य को किन किन विषयों के पठन का क्रम रखना ठीक होगा इसका विचार बहुत कुछ उसके व्यवसाय के अनुसार होना चाहिए। जो दिन रात किस्से कहानियां ही पढ़ा करता है वह अच्छा गणितज्ञ कभी नहीं हो सकता। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि पढ़ने का मुख्य उद्देश्य अंतःकरण अर्थात् उसकी सब शक्तियों का समान संस्कार है जिसमें जब जिस शक्ति का प्रयोजन पड़े उससे काम लिया जा सके। इससे हमें आंख मूंद कर विद्या के किसी एक ही विभाग की ओर संलग्न न हो जाना चाहिए। विवेचना शक्ति का ऐसा अनन्य अभ्यास न करना चाहिए जिससे कल्पना शक्ति मारी जाय और कल्पना के व्यवहार की भी इतनी अधिकता न हो कि विवेचना-शक्ति मंद पड़ जाय। दोनों का पल्ला एक हिसाब से रक्खा जाय—ठीक उसी प्रकार से जैसे संगीत में बहुत से बाजे एक साथ बजते हैं पर उनमें से कोई एक दूसरे को दबा कर ऊंचा नहीं होने पाता, सब इस क्रम बजते हैं कि स्वर-मैत्री बनी रहे। यदि कोई बज़ाज़ दिन रात कपड़ों ही की बात चीत किया करे तो लोग ऊब जांय और उसके पास कोई न बैठे। एक अनुभवी नीतिज्ञ कहता है—"जो कोई मनुष्य व्यवसाय संबंधी अध्ययन ही की ओर

दत्तचित रहेगा, संस्कार-शिक्षा की ओर मन न लगावेगा उसे यह समझ रखना चाहिए कि व्यवसाय-शिक्षा चाहे कितनी ही पूर्ण हो उससे व्यवसाय का पूरा परिज्ञान नहीं हो सकता। व्यवसाय की नियम-पद्धति में उसे उसके व्यवसाय का एक अत्यंत आवश्यक अंग सीखने को रह जायगा, उसे इसका बोध न होगा कि व्यवसाय की विशेष विशेष बातों का मनुष्य की सामान्य प्रकृतियों और भावनाओं से कैसा संबंध है। क़ानून ही के व्यवसाय को लो। एक ओर तो इससे बढ़ कर कृत्रिम, आडंबरपूर्ण तथा भावुकता-शून्य दूसरा विषय नहीं, दूसरी ओर मनुष्य जाति के स्वत्व, उसकी स्वतंत्रता आदि से यह घनिष्ट संबंध रखता है जिससे एक वकील के लिये सब बातों का थोड़ा बहुत जानकार होना जितना आवश्यक है उतना अच्छा कानूनदां होना नहीं। जो मनुष्य विद्या के एक ही अंग में लिप्त रह जाता है वह उस अंग का भी पूर्ण अधिकारी नहीं हो सकता क्योंकि विद्या के भिन्न भिन्न अंगों का संबंध एक दूसरे से लगा हुआ है, वे एक दूसरे के आश्रित हैं। जो अपना सारा जीवन केवल व्याकरण ही में बिता देते हैं उनकी विद्या बुद्धि जैसी होती है वह प्रकट ही है। जो आंख मूंद कर किसी एक ही विषय में लीन रह जाता है संसार उसे मूर्खों की कोटि में समझता है। वह कुछ नहीं जानता। जहाज़ पर पृथ्वी की परिक्रमा करते हुए कई बंदर-गाहों पर उतरना पड़ता है, यदि विश्राम के लिये नहीं तो

रसद के लिये सही। इसी से मेरा प्रत्येक मनुष्य से यह कहना है कि जहां तक हो सके किसी एक विषय में प्रवीणता प्राप्त करते हुए सब बातों की आवश्यक जानकारी प्राप्त करते हुए पूरे मनुष्य बनो। इससे उस विषय में भी उत्कृष्टता आवेगी और मानव जीवन भी सफल होगा। इसी ढंग से तुम उस विचार-संकीर्णता से बच सकते जो किसी एक ही विषय में मग्न रहने वालों में पाई जाती है। सारांश यह कि पेशा या व्यवसाय चाहे जो हो, जो लोग उसी पेशे ही भर में रह जायंगे वे उन चीनियों के समान मितदर्शी और संकीर्ण ज्ञान के हो जायंगे जो अपने बनाए हुए भूगोल के नकशे में चीन साम्राज्य के तो छोटे छोटे गांवों तक को लिखते है पर उस के आगे लिख देते हैं "अज्ञात मरूभूमि, बर्बरों का निवास है"।

शरीर को स्वस्थ रखने के लिये यह आवश्यक है कि आहार के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के और भिन्न भिन्न गुण रखने वाले पदार्थ हों। हमें ऐसी वस्तुओं का भोजन करना चाहिए जिनसे रुधिर भी बने, मांस भी बने, मेद भी बने, अस्थि भी बने। मनुष्य रोटी ही पर नहीं रह सकते। यदि वे केवल रोटी ही खांय तो उनके जोड़ों और पेशियों में फुरती न रहेगी, स्नायुओं की शक्ति क्षीण हो जायगी, ;हाथ पैर न उठेंगे, और रक्त दुषित हो जायगा। जो दशा शरीर की है वही आत्मा की भी है। अंतः-करण तभी सशक्त और फुरतीला रह सकता है जब उसके पोषण के लिये भिन्न भिन्न प्रकार की वस्तुएँ ही पहुंचाई जाँय।

उसकी कल्पना-शक्ति को भी पोषण सामग्री पहुंचानी होगी और विवेचाना शक्ति को भी, विवेक को भी पुष्ट रखना होगा और भावना को भी तीव्र रखना होगा। इस प्रकार अंतःकरण को स्वस्थ और बलिष्ट रखना ही पढ़ने का उद्देश्य है। अध्ययन से अंतःकरण की सारी शक्तियों का अभ्यास बढ़ता है, इससे बल और उत्साह भी प्राप्त होता और आवश्यकतानुसार शांति भी आती है।

मैं ऊपर बतला चुका हूं कि पढ़ने का एक उद्देश्य चित्त में चेतावनी और उत्तेजना से भरी उत्तम उक्तियों को धारण करना भी है। इसी प्रकार पढ़ने का एक प्रयोजन यह भी है कि इतिहास और काव्य से उत्कृष्ट कर्म्मों के दृष्टांतों को चुन कर उन्हें हृदय में अंकित करके सजावे, ठीक उसी भांति जैसे गुणी चित्रकार अपनी चित्रशाला को सजाता है। इन दृष्टांतों और घटनाओं को एक एक करके स्मृति के सम्मुख लाना, उनके ब्योरों पर ध्यान देना, उनके महत्व का चिंतन करना, और उनसे उपदेश ग्रहण करना कितना आनंददायक होता है! वे चित्र जिन्हें पाठक अपनी स्मृति में उपस्थित करेंगे उतने ही रंग बिरंग के होंगे जितने प्रकार के ग्रंथ वे देखेंगे। उन्हें भिन्न भिन्न जातियों के इतिहास से, श्रेष्ठ पुरुषों के जीवन वृत्तांतों से, कवियों की अलौकिक सृष्टि से, यात्रियों और अन्वेषकों की छान बीन से, वैज्ञानिकों के अनुसंधान से अनेक प्रकार के रुचिर और मनोरम दृश्य प्राप्त होंगे। वे वेदव्यास

अंकित महात्मा भीष्म के उस समय के पराक्रम को देखेंगे जब वे रथ पर चढ़े पांडव सेना पर अनिवार्य्य अस्त्रों की वर्षा कर रहे थे, अपने बाणों के अखंड प्रवाह से पांडवों को विकल कर रहे थे, और अर्जुन ऐसे धीर और पराक्रमी पुरुष के धैर्य्य को छुड़ा रहे थे। उसके उपरांत फिर उन्हीं वृद्ध भीष्म पितामह को पाठक शरशय्या पर लेटे लेटे राजनीति और धर्म्म के गूढ़ तत्त्वों का उपदेश करते देखेंगे। पाठक अपने स्मृतिक्षेत्र में देश भक्ति के और सच्ची वीरता के इस दृश्य को जब चाहें तब देख सकते हैं—"आज १६३२ संवत् के श्रावण मास की सप्तमी है। आज मेवाड़ के राजपूत 'स्वर्गादपि गरीयसी' जन्मभूमि के लिये प्राण देने को उद्यत हुए हैं। बादशाह अकबर की कई लाख सेना राजा मानसिंह के साथ मेवाड़ पर अधिकार करने को आई है। मुग़ल सम्राट् सूर्य्यवंश पर कलंक की कालिमा लगाने पर उद्यत है। इधर मेवाड़ के वीरशिरोमणि महाराणा प्रतापसिंह जी इस वंश की पवित्रता को अटल रखने के लिये प्राणपण से कटिबद्ध हैं। सच्चे क्षत्रिय वीर ने सच्चे क्षत्रियपन के गौरव की रक्षा का संकल्प किया है। चिरस्मरणीय हल्दी घाट के मैदान में मेवाड़ के अवलंब और गौरव स्वरूप केवल बाइस हज़ार राजपूत वीर इकट्ठे हैं और महाराणा प्रताप इनके नेता बनकर असंख्य मुग़ल सेना की गति का अवरोध करने को खड़े हैं"। पाठकों को इतना ही आभास दे देना बहुत होगा, वे स्वयं भिन्न भिन्न प्रकार की पुस्तकों से भिन्न भिन्न प्रकार के मनोहर दृश्य चुन लेंगे।

सच्चा विद्यानुरागी ज्ञान प्राप्ति का साधन इस लिये करेगा जिसमें वह अपना तथा दूसरों का हित-साधन कर सके। उसका मुख्य उद्देश्य उन शक्तियों की वृद्धि और परिष्कृति का साधन होना चाहिए जो उसे प्राप्त हैं और उस साधन का मुख्य फल यह आनंद होना चाहिए जो ज्ञान द्वारा प्राप्त होता है। ऐसे व्यक्ति को पढ़ने का लाभ मैं और क्या बतलाऊँ? प्रसिद्ध अंग्रेज़ विद्वान् बेकन का उपदेश है कि "हमें खंडन मंडन करने के लिये, विश्वास और अंगीकार करने के लिये और तरह तरह की बात छेड़ने के लिये नहीं पढ़ना चाहिए बल्कि विवेक और विचार के लिये पढ़ना चाहिए"। आगे चल कर उसने पठन, वार्त्तालाप, और लेखन का भेद समझाया है कि पठन से पूर्णता, वार्त्तालाप से तत्परता, और लेखन से यथार्थता आती है। इसी से वह कहता है—"यदि कोई मनुष्य थोड़ा लिखे तो समझना चाहिए उसे धारणा की आवश्यकता है, यदि थोड़ा वार्त्तालाप करे तो समझना चाहिए कि उसमें उपस्थित बुद्धि का अभाव है और यदि थोड़ा पढ़े तो समझना चाहिए कि उसे चतुराई और समझ की आवश्यकता है"। बातचीत और लिखना दोनों बहुत प्रयोजनीय हैं, बातचीत व्यवहार कुशल पुरुषों को प्रायः पुस्तक का काम देती है, पर विद्यानुरागी के लिये पढ़ना एक बड़ा भारी मंत्र है जिसके प्रभाव से चिर-काल का संचित ज्ञान-भांडार उसके सामने खुल पड़ता है, वह सब काल के पुरुषों

का समकालीन हो जाता है, और सब जातियों के विचारों का आगार बन जाता है, सैकड़ों पीढ़ियों के प्रयत्न का फल उसके हाथ में आ जाता है। यह प्रत्यक्ष है कि मनुष्य के कर्म्मों की व्यवस्था ज्ञान से प्राप्त होती है, और ज्ञान वही श्रेष्ठ है जो विषयों से संबंध रखता है। ऐसे ज्ञान का द्वार अध्ययन है।

पर अध्ययन या पढ़ना है क्या वस्तु? विना किसी उद्देश्य के यों ही सरसरी तौर पर पुस्तकों के पन्ने उलटते जाना, जैसा कि प्रायः लोग मन बहलाव के लिये अवकाश के समय किया करते हैं, पढ़ना नहीं है बल्कि उनमें लिखी बातों को विचार पूर्वक स्थिर किये हुए नियमों और व्यवस्था के अनुसार पूर्ण रूप से हृदय में ग्रहण और धारण करने का नाम पढ़ना है। आर्थर हेल्टस कहते हैं—"प्रत्येक स्त्री पुरुष को जो थोड़ा बहुत पढ़ सकता है अपने पढ़ने का कोई उद्देश्य स्थिर कर लेना चाहिए। वह अपनी शिक्षा का कोई एक मूलकांड मान ले जिससे चारों ओर शाखाएँ निकल कर उस मूल वृक्ष के लिये प्रकाश और वायु संचित करें जो आगे चलकर शोभायमान और उपयोगी निकले तथा बराबर फूलता फलता रहे"। विद्यार्थी को इसका ध्यान सब से पहले रखना चाहिए। यदि वह विना नक़शे या ध्रुव यंत्र के यों ही विद्या के अगम समुद्र में चल पड़ेगा और यह स्थिर न कर लेगा कि उसे किस बंदर की ओर चलना है तो या तो उसकी नाव डूब जायगी या हवा और लहरों की झोंकें खाती इधर उधर टकराती फिरेगी"। यहां पर कोई एक ऐसी युक्ति बतलाने की चेष्टा करना मूर्खता

ही होगी जिसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपने लिये अध्ययन का मार्ग स्थिर करे। हां इतना कहा जा सकता है कि कोई पुरुष सरसरी तौर पर पढ़ने का अभ्यास न डाले बल्कि अपने मानसिक संस्कार का ध्यान रक्खे। यदि वह ऐसा करेगा तो उसे कुछ दिनों में आप से आप मालूम हो जायगा कि क्या करना चाहिए। यद्यपि अध्ययन के लिये कोई ऐसी सटीक युक्ति नहीं बतलाई जा सकती पर विद्यार्थी को जिन साधारण सिद्धांतों पर अपने अध्ययन का क्रम स्थिर करना चाहिए वे निर्धारित किए जा सकते हैं।

सब से पहली बात तो यह है कि पढ़ना नियमपूर्वक होना चाहिए, अर्थात् उसके लिये नित्य कुछ समय रख लेना चाहिए और इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बहुत ही आवश्यक बातों को छोड़ और दूसरी बातें उस समय के बीच बाधक न होने पावें। यदि विद्यार्थी को जीविका के लिये कोई काम करना पड़ता है तो यह समय सुबीते के अनुसार ही रक्खा जा सकता है। बहुत करके ऐसे व्यक्ति को संध्या ही को ऐसा समय मिल सकता है जिसमें वह अपनी प्रिय पुस्तकों को हाथ में ले। अन्यथा सवेरे का समय ही एकाग्र चित्त से अध्ययन करने के लिये उपयुक्त होता है। उस समय चित्त बहुत तत्पर रहता है। रात भर के विश्राम से उसकी सारी शक्तियां काम करने के लिये तैयार रहती हैं। सूरदास के विषय में प्रसिद्ध है कि वे नित्य सवेरे स्नानादि के उपरांत कुछ पद

बना कर तब जल पान आदि करते थे। यही बात कई भक्त कवियों के विषय में कही जाती है। प्रसिद्ध अंग्रेज़ उपन्यास-कार स्काट प्रातःकाल जल पान आदि कर के दोपहर तक लिखता था। पर चाहे सवेरे का समय हो, चाहे संध्या का, चाहे एक घंटे का समय लगाया जाय, चाहे दो घंटे का, चाहे तीन घंटे का उसका नियम बराबर रखना चाहिए। टेव ही सब कुछ है। प्रायः ऐसा होता है कि हमें पढ़ने लिखने को जी नहीं चाहता, आलस्य मालूम होता है। इसे दृढ़तापूर्वक रोकना चाहिए, नहीं तो आत्मसंस्कार की सारी आशा धूल में मिल जायगी। इस बुरे प्रभाव से बचने की सब से अच्छी युक्ति यही है कि बाँधे हुए नियम का दृढ़तापूर्वक पालन करें, उसे टूटने न दें। हमारा चित्त सदा एक सा नहीं रहता। उसमें सदा एक सी तत्परता नहीं रहती। आज हम जिस बात को लेकर आशा और उत्साह से भरे हैं उसी बात से कल कोई आशा नहीं बँधती। प्रत्येक मनुष्य चित्त की इस चंचलता के वशीभूत है। पर यदि बुद्धि उदय होकर तुम्हें आलस्य छोड़ने और उत्साह के अभाव में भी कठपुतली की तरह चटपट काम कर चलने का आदेश करे और तुम उस काम को कर चलो तो थोड़ी ही देर में देखोगे कि तुम में ज्यों का त्यों उत्साह आ गया है फिर तुम सोचोगे कि हमने बहुत अच्छा किया जो अपने नियमित विधान आलस्य के फेर में पड़कर नहीं छोड़े। बुद्धि को साधना का सहारा दो, आलस्य और खिन्नता को अपने

दृढ़ संकल्प द्वारा हटाओ, फिर देखोगे कि आलस्य तुम्हें आता ही नहीं और तुम्हारे चित्त में संयम और अध्यवसाय का संस्कार दृढ़ हो गया है।

दूसरी बात यह है कि पढ़ना समझ बूझ कर हो. अर्थात् हम ग्रंथकार के भाव को ठीक ठीक समझने का उद्देश्य रक्खें. उसकी वाक्यरचना पर ध्यान दें, उसके पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष को समझें, उसकी त्रुटियों का पता लगावें तथा उसके सिद्धांतों की परीक्षा करें। हम जो पुस्तक पढ़ें उसका मत भी देखें और अपना मत भी देखें। उस पुस्तक का अभिप्राय क्या है। उस अभिप्राय का साधन वह किस ढंग से करती है? क्या हम उसके अभिप्राय को पूर्ण रूप से समझते हैं और उसके साधन का अच्छी तरह निरीक्षण करते हैं? क्या उसमें किए हुए तर्क से हमारा साधन होता है? क्या उसके वर्णन हमारे चित्त में स्पष्ट दृश्य उपस्थित करते हैं? उसमें वस्तुओं और वस्तुओं के जो जो प्रसंग आए हैं उन्हें हम अच्छी तरह समझते हैं? सारांश यह हुआ कि क्या हमारा चित्त वही भाव ग्रहण करता है जो ग्रंथकार ने धारण किया था? क्या हम उसी रूप से विवेचना करते हैं जिस रूप से उसने की थी, क्या हमारे विचार में भी वैसा ही आया है जैसा उसके विचार में आया था? यदि नहीं, तो क्या हम यह देख सकते हैं किन किन बातों में और कहां तक हम उससे सहमत नहीं हैं और क्यों सहमत नहीं हैं? इन प्रश्नों का ठीक ठीक उत्तर बिना सूक्ष्मता

के साथ डूब कर अध्ययन किए हुए नहीं दिया जा सकता। इस रीति से अध्ययन करने का कष्ट प्रायः नवयुवक नहीं उठाते पर उन्हें समझ रखना चाहिए कि विना इस ढंग से अध्ययन किए किसी अच्छे ग्रंथ या बड़े ग्रंथकार का अभिप्राय पूर्ण रूप से समझ में नहीं आ सकता। यह प्रणाली पहले बहुत लंबी चौड़ी और कष्टसाध्य प्रतीत होगी पर थोड़े दिनों के अभ्यास से वे हम इसका अनुसरण सहज में और जल्दी जल्दी करने लगेंगे। काल पाकर हमें इसकी टेव सी पड़ जायगी और हम झट झट पृष्ठ पर पृष्ठ पढ़ते जांयगे और हमारा पढ़ना इसी प्रणाली के अनुसार आप से आप होगा। पर यदि ऐसा न भी हो तो भी इस प्रणाली से अध्ययन करने में जो अधिक समय और परिश्रम लगेगा उससे भरपूर लाभ होगा। जो पुस्तक इस प्रकार समझ बूझ कर पूर्ण रूप से पढी जायगी वह सब दिन के लिये हमारी हो जायगी, उसके भाव हमारी नस नस में घुस जांयगे और उसका विषय हमारे ज्ञान का एक अंग हो जायगा। इस प्रकार पूर्ण रूप से दस पुस्तकों का पढ़ना साधारण रीति से सौ पुस्तकों के पढ़ने से अच्छा है। जो मुसाफिर डाक गाड़ी में बैठा रम्य से रम्य प्राकृतिक दृश्यों के बीच से हो कर ३५ मील प्रति घंटे के हिसाब से भागा जाता है वह भला क्या देख सुन सकता है? वह एक बड़े देश से हो कर निकल जायगा पर उसकी विशेषताओं को न जान सकेगा। एक बात और भी है कि यदि इस प्रणाली का पूर्णतया अनुसरण किया

आयगा तो पढ़ने में बड़ी सुगमता होगी क्योंकि इसके द्वारा हम प्रस्तुत पुस्तकों की अच्छी बातों का पूरा आनंद लेते जायंगे। बहुत से नवयुवक यह कहते सुने जाते हैं कि मैंने यह पढ़ा है पर यदि उनसे पूछिए तो पुस्तक के नाम केसिवा और कोई बात नहीं बतला सकते। यह कोई पढ़ना नहीं है, इसे समझ बूझ कर पढ़ना नहीं कह सकते। तुम किसी पुस्तक को तब तक पढ़ी हुई नहीं कह सकते जब तक कि उसका सार तत्त्व, उसके निर्धारण की शैली, ग्रंथकार की तर्कना-प्रणाली, तथा उसके सिद्धांतों को पुष्ट करने वाले दृष्टांत तुम्हारे मन में बैठ न जाँय।

मैंने अध्ययन की उस प्रणाली से बहुत ही लाभ उठाया है जिसे उद्धरणी कहते हैं। इस प्रणाली में बार बार दोहराने की क्रिया करनी पड़ती है जिससे पढ़ी हुई बात मन में बैठ जाती है। मैं पढ़ने में इसी प्रणाली का अनुसरण करता हूं। जब मैं किसी पुस्तक का एक प्रकरण पढ़ चुकता हूं तब मैं पुस्तक को बंद कर देता हूं और उसमें आई हुई मुख्य मुख्य बातों को फिर ध्यान पर चढ़ाता हूं। इसी क्रम से मैं एक एक प्रकरण पढ़ता जाता हूं। जब पुस्तक समाप्त हो जाती है तब मैं सारी पुस्तक के विषय का अनुक्रम, एक एक प्रकरण करके, मन में धारण करता हूं और इस प्रकार पुस्तक की सारी बातों को मन में दोहरा जाता हूं। यह हो सकता है कि कोई मनुष्य, बहुत सी पुस्तकें पढ़े और कुछ भी न जाने। पढ़ने का जो

ढंग ऊपर बतलाया गया है उसके अनुसार यदि कोई पढ़े तो उसे पुस्तकों के विषय पर पूरा अधिकार हो जायगा। यह ढंग जल्दी जल्दी पढ़ने के लिये तो उपयुक्त नहीं है पर सम्यक् रूप से पढ़ने के लिये उपयुक्त है। जब कोई युवा पुरुष पढ़ना आरंभ करे तब उसे चाहिए कि वह धीरे धीरे समझ बूझ कर पढ़े, ठीक उसी प्रकार जैसे कोई हरकारा जब अपनी यात्रा आरंभ करता है तब धीरे धीरे चलता है फिर ज्यों ज्यों पैर गरमाता जाता है वह अपनी चाल बढ़ाता जाता है। यदि कोई पाठक पहले ही बहुत अधिक आगे बढ़ना चाहेगा तो उसका चित्त बहुत सी बातों के बोझ से घबड़ा जायगा और वह विषय को ग्रहण और धारण न कर सकेगा। प्राचीन काल के पंडित और विद्वान् आज कल के पंडितों और विद्वानों से एक बात में अच्छे थे, उनके पास थोड़ी ही सी पुस्तकें रहती थीं और वे उन्हें अच्छी तरह पढ़ते थे। क्योंकि बहुत सी पुस्तकों ही से बोध नहीं हो जाता। बोध के लिये यह देखना आवश्यक नहीं है कि 'हमने कितना पढ़ा है' बल्कि यह देखना आवश्यक है कि 'हमें कितना उपस्थित है"। एक अनाड़ी किसान सौ, बीघे में भी उतनी फ़सल नहीं पैदा कर सकता जितनी एक चतुर किसान पचास बीघे में कर सकता है।

पढ़ने के समय एक नोट बुक रख लेने से बड़ी सहायता मिल सकती है। जो पुस्तक तुम पढ़ो उसके उत्तम और चमत्कार-पूर्ण अंशों को उसमें अक्षर क्रम से या और किसी क्रम से

टांकते जाओ। पढ़ते समय हाथ में एक पेंसिल भी रक्खो, और (यदि पुस्तक तुम्हारी ही हो तो) पृष्ठ के किनारे ऐसे स्थलों पर निशान करते जाओ जो बार बार पढ़ने योग्य हों, जिनमें कोई सुंदर उक्ति हो, जो संदिग्ध हों, अथवा जिनके विषय में छानबीन आवश्यक हो। पठन-प्रणाली के कई एक लेखकों ने पुस्तक पर निशान करने के लिये इतने प्रकार के चिह्न बनाए हैं कि यदि कोई पाठक उनका व्यवहार करे तो सारी पुस्तक ही रँग जाय। पर मैं ने जहां तक अनुभव किया है केवल चार चिह्नों ही से काम चल जाता है, वे चार चिह्न ये हैं—

। इस चिह्न से यह सूचित होता है कि जहां यह लगा है उस स्थल का भाव या उक्ति सुंदर है।

× इससे ऊपर वाले चिह्न का उलटा अभिप्राय समझना चाहिए।

? इस चिह्न से यह अभिप्राय है कि बात सन्दिग्ध या अयथार्थ है।

० यह सूचित करता है कि कथन *कहीं से उद्धृत है, या* विचार कहीं से लिए गए हैं।

बहुत से चिह्नों का आडंबर रखने से पढ़ने में सुविधा न होगी वरन रुकावट ही होगी, क्योंकि पढ़ने वाले का ध्यान इन्हीं चिह्नों की ओर रहेगा, विषय की ओर न रहेगा। उसका पढ़ना इसी प्रकार का होगा जैसे कोई रास्ते में मील और फ़रलांग के पत्थर गिनता चले और चारों ओर के रमणीय दृश्यों और विशेषताओं की ओर ध्यान न दे।

पढ़ने में विषयों का विभाग भी अत्यंत प्रयोजनीय है। हमें ऐसी शक्ति प्राप्त करनी चाहिए कि जिससे धारण करने योग्य विचार का एक बार हमारे चित्त में संचार हो उसे हम धारण कर लें। 'नोट बुक' और चिह्नों से, जिनका उल्लेख ऊपर हुआ है, विषय-विभाग में बड़ी सहायता मिलेगी पर सब से अधिक सिद्धि अंतःकरण में स्थित अन्वय व्यतिरेक की शक्ति की साधना से होगी। पाठक को अपने विचारों को सुव्यवस्थित करने का अभ्यास करना चाहिए। ज्यों ज्यों वह पढ़ता जाय त्यों त्यों उन भावों और विषयों को क्रमबद्ध करता जाय जो उसके सामने आवें।

विषयों के अध्ययन का कोई क्रम होना चाहिए। इस क्रम का अभाव बड़ी भारी भूल है जो प्रायः नवयुवकों से हुआ करती है। ये काव्य पढ़ते पढ़ते इतिहास पढ़ने लगते हैं, इतिहास छोड़ कर तर्कविद्या की ओर झुकते हैं, फिर उपन्यास हाथ में लेकर बैठते हैं, सारांश यह है कि जैसे भिखमंगे एक द्वार से दूसरा द्वार देखा करते हैं वैसे ही ये एक विषय से दूसरे विषय की ओर जाया करते हैं। ये लोहे की खान खोदते खोदते तांबे की खान खोदने लगते हैं फिर सीसे की खान की ओर लपकते हैं। सारांश यह है कि एक एक कर के ये प्रत्येक विषय का पल्ला चूमते हैं पर किसी में भी कुछ काल तक नहीं लगे रहते। इस प्रकार का पढ़ना अध्ययन के उद्देश्य और अभिप्राय का साधक नहीं बाधक होता है॥इस में चित्त सदा

चंचल और अस्थिर रहता है, और बहुत से विषयों का बोझ लाद देने से बुद्धि स्तब्ध और शिथिल हो जाती है। सोचना चाहिए कि पढ़ने का उद्देश्य क्या है। जैसा कि बेकन ने कहा है "पढ़ना खंडन मंडन करने, या मानने मनाने के लिये नहीं होता बल्कि विचार और विवेक के लिये होता है"। अस्तु, हम लोग जो कुछ पढ़ें एक क्रम के साथ पढ़ें जिसमें जो कुछ हम पढ़ें उसे अच्छी तरह समझें बूझें। पढना हमें केवल ज्ञान की सामग्री प्रदान करता है, विषय में पूर्ण अधिकार चिंतन से होता है। जिस प्रकार चौपाए एक बार जो कुछ खाते हैं उसे फिर जुगाली के द्वारा कई बार कूंचते हैं तब वह उनके शरीर में लगता है, इसी प्रकार अध्ययन में बिना चर्वित चर्वण के ज्ञान प्रौढ नहीं होता। यों ही मोटे तौर पर बहुत से विषयों का स्पर्श करते रहने से ज्ञान के भांडार की वृद्धि नहीं होती क्योंकि दूसरों के कथन को न हम ठीक ठीक दोहरा सकते हैं और न उनके तर्क और प्रमाण को अपने हृदय में उपस्थित कर सकते हैं। इस प्रकार की जानकारी वैसी ही होती है जैसी सुनी सुनाई बातों की। इस प्रकार की जानकारी जो कभी कहीं प्रकट करता है तो उसका आधार या तो कुछ रटे हुए वाक्य होते हैं या बिना सोचे समझे सिद्धांत।

मान लीजिए कि किसी ने 'महाराष्ट्र जाति के अभ्युदय का इतिहास' पढ़ने में लगा लगाया है। उसके लिये देश की उस अवस्था की पूरी छान बीन करनी चाहिए जो महाराष्ट्र

आधिपत्य के समय में थी। पहले तो उसे तत्कालीन लेखकों के दिए हुए वृत्तांतों का पूरा परिचय प्राप्त करना चाहिए, जिसमें घटनाओं का क्रम उसे ठीक ठीक विदित रहे, जिसमें उसके सहारे पीछे के इतिहास लेखकों के सिद्धांतों और अनुमानों की वह पूर्ण परीक्षा कर सके। उस ढंग से जिस विषय को विद्यार्थी उठावे उसे उसका अंत तक अध्ययन करना चाहिए, यह नहीं कि बीच में किसी अन्य विषय की कोई अच्छी पुस्तक देखी तो सब छोड़ छाड़ कर उसीकी ओर लपक पड़े। समय समय पर सब विषयों का अनुशीलन करना चाहिए, पर जो विषय हाथ में हो उसे एक ठिकाने पर छोड़ना चाहिए। उस किसान को लोग क्या कहेंगे जो एक खेत में दो कूंड डाल कर हल बैल लेकर दूसरे खेत में पहुंचता है, फिर दूसरे से तीसरे में ? लोग यही कहेंगे कि यह ऐसा काम करके अपना समय और श्रम नष्ट करता है। विचार कर देखिए तो यही दशा बहुत से पाठकों की पाई जायगी। वे बड़ी अस्थिरता के साथ कभी एक विषय को हाथ में लेते हैं कभी दूसरा विषय उठाते हैं, कभी थोड़ा इधर पढ़ते हैं कभी थोड़ा उधर, कभी इतिहास का एक प्रकरण पढ़ते हैं फिर गणित की कोई क्रिया करने लगते हैं। इस का फल क्या हो सकता है ? बिना किसी क्रम और व्यवस्था के धारणा में बहुत सी ऊटपटांग और बेमेल बातों को स्थान देने से कोई लाभ नहीं हो सकता। जैसे और सब बातों में

वैसे ही पढ़ने के विषय में भी पक्का सिद्धांत यही है कि एक समय में एक ही चीज़ पढ़ी जाय, और अच्छी तरह पढ़ी जाय। तीन घोड़े पर चढ़ कर केवल सरकसवाले निकलते हैं पर सवार जिसे किसी दूर प्रदेश में जाना रहता है एक ही जँचे हुए घोड़े पर चढ़ कर निकलता है। वह अस्थिर चित्त का मनुष्य जो कभी कविताएं लिखता है, कभी पुरातत्त्व में टांग अड़ाता है, कभी राजनैतिक विषयों पर व्याख्यान देता है किसी एक में भी प्रवीणता नहीं प्राप्त कर सकता। सच्चे विद्यार्थी को इस प्रकार की कुदान और सरसरी पढ़ाई से दूर रहना चाहिए। उसे यह कभी न समझना चाहिए कि बहुत से विषयों का पल्ला चूमने से ही वह कुछ सीख सकता है या बहुत सी पुस्तकें उलटने ही का नाम खूब पढ़ना है। एक अनुभवी ग्रंथकार का उपदेश ध्यान देने योग्य है जो कहता है—"साधारणतः पढ़ने की ओर प्रवृत्ति आनंद और शिक्षा के लिये होती है। इससे युवा पुरुष का पढ़ना ऐसा होना चाहिए जिसमें कुछ श्रम मालूम हो और जिसका कुछ विशिष्ट उद्देश्य हो। जिसमें कुछ श्रम पड़ता है उससे अंतःकरण की सब शक्तियों पर ज़ोर पड़ता है, और कोई विशेष उद्देश्य रख कर हम जो कुछ पढ़ते हैं उसको धारणा जितनी दृढ़ता के साथ ग्रहण करती है उतनी दृढ़ता के साथ यों ही सरसरी तौर पर पढ़ी हुई बातों को नहीं।

एक बात और है। विद्याभिलाषी जो कुछ पढ़े उसे आलोचनापूर्वक पढ़े। इसी सिद्धांत की ओर लक्ष्य कर के

एक विद्वान् कहता है—"कुछ पुस्तकें ऐसी होती हैं जिन्हें सरसरी तौर पर ही पढ़ने के लिये एक आदमी की पूरी उमर चाहिए, दूसरी वे जो पढ़ने में सहायक मात्र होती हैं और जिनका काम समय समय पर पड़ता है, तीसरी वे जो केवल खुशामद या शिष्टाचार के निमित्त लिखी जाती हैं और जिनका केवल देख लेना ही पढ़ जाना है"। इन भारी भारी पुस्तकों, सहायक पुस्तकों और शिष्टाचार की पुस्तकों को अलग रख कर विद्यार्थी को ऐसी ऐसी पुस्तकें पढ़नी चाहिएं जो उसे कुछ सिखावें, जो यह बतलावें कि कैसे जीना और कैसे मरना होता है, जो उसकी धारणा में उत्तम ज्ञान का भांडार भर दें और कल्पना में उत्तम उत्तम चित्र अंकित कर दें, उसके श्रेष्ठ मनोवेगों को उभाड़ें तथा हृदय की पवित्र और मृदुल भावनाओं को प्रेरित करें। उसे अपने पढ़ने के लिये पुस्तकें बहुत सोच विचार कर चुननी चाहिएं. क्योंकि जो समय बुरी पुस्तक देखने में जाता है वह नष्ट हो जाता है और नष्ट करने के लिये विद्यार्थी को समय नहीं मिल सकता। अच्छी पुस्तकों की भी तीन श्रेणियां हैं—एक तो वे पुस्तकें जिनका ऊपर बताए हुए ढंग से पूर्ण अनुशीलन करना चाहिए, दूसरी वे पुस्तकें जिनका तीन बार पढ़ जाना ही काफ़ी है, तीसरी वे जिन्हें एक बार से अधिक पढ़ने की आवश्यकता नहीं। जैसे और सब काम करने के वैसे ही पढ़ने मे भी तीन ढंग हैं-साधारणतः पढ़ना, अच्छी तरह पढ़ना, खूब अच्छी तरह पढ़ना। पर इस

अंतिम ढंग से पढ़ने के योग्य पुस्तकें कितनी थोड़ी हैं! ऐसी पुस्तकें कितनी थोड़ी हैं जिनके विषय में मिल्टन की उक्ति चरितार्थ होती हो कि "पुस्तकों में वैसी ही क्रियमाण जीवन-शक्ति उत्पन्न करने का गुण होता है जैसी उनके लिखने वालों की आत्मा में थी"। पुस्तकों में उनके कर्त्ताओं की पवित्र बुद्धि का सार खींच कर रक्खा रहता है जिसके सेवन से मननशील पुरुषों में ज्ञान-शक्ति का सचार होता है।

मिल्टन ने आलोचनापूर्ण अध्ययन को कर्त्तव्य ठहरा कर इस बात का पक्ष लिया कि पुस्तकों के प्रकाशन में किसी प्रकार की बाधा राज्य की ओर से न होनी चाहिए, सब प्रकार की पुस्तकें छपें और प्रकाशित हों। बहुत से धार्मिक महात्मा हो गए हैं जो नास्तिकों की लिखी पुस्तकों को बराबर देखते थे। एक धर्म्मात्मा साधु के विषय में मिल्टन ने लिखा है कि "वह मनसा, वाचा, कर्म्मणा किसी प्रकार कोई पाप नहीं करना चाहता था। एक दिन सोचते सोचते वह इस उलझन में पड़ गया कि मैं कैसी बातों पर विचार करूं। इसी बीच में उसे दैवी स्वप्न हुआ कि चाहे जो पुस्तक तेरे हाथ में आवे उसे तू पढ़ डाल क्योंकि तेरी बुद्धि सत्य का निर्णय करने और प्रत्येक विषय की ठीक ठीक परीक्षा करने के योग्य है"। जिसे पर्य्यालोचन का अभ्यास हो जाता है वह सब प्रकार की बातें पढता है पर उनमें जो अच्छी होती हैं उन्हीं को ग्रहण करता है।

मिल्टन ने आगे चल कर फिर कहा है—"पवित्र मनुष्य के निकट सब वस्तुएं पवित्र हैं, खान पान ही नहीं, सब प्रकार का पढ़ना भी, चाहे अच्छा हो चाहे बुरा। यदि अंतःकरण शुद्ध है तो किसी प्रकार का पढ़ना या किसी प्रकार की पुस्तकें उसे कलुषित नहीं कर सकतीं। पुस्तकें भोजन की सामग्री के समान हैं जिनमें कुछ अच्छी होती हैं, कुछ बुरी। लोग अपनी रुचि के अनुसार उनको चुन सकते हैं। जिसकी पाचन शक्ति बिगड़ गई है उसके लिये अच्छा भोजन और बुरा भोजन क्या ? इसी प्रकार दुष्ट प्रकृति वाले के लिये उत्तम से उत्तम पुस्तकें भी अच्छे उपयोग में नहीं लाई जा सकतीं। पर पुस्तकों और खान पान की वस्तुओं में यह एक अंतर है कि निकृष्ट भोजन स्वस्थ से स्वस्थ शरीर का भी पोषण नहीं कर सकता पर निकृष्ट पुस्तकें पर्य्यालोचन शक्ति रखने वाले विवेकशील पाठकों को पता लगाने, खंडन करने, सावधान करने और दृष्टांत देने में सहायता देती हैं"। मिल्टन का यह कथन वहीं तक स्वीकार किया जा सकता है जहां तक उसका संबंध राज्य की ओर से पहुंचाई जाने वाली बाधा को रोकने से है। वह विद्यार्थी के अनुसरण के योग्य नहीं है। राज्य की ओर से पुस्तकों के विषय में किसी प्रकार का बंधन होना अनुचित है पर विद्यार्थी के लिये आवश्यक और उपयोगी है। उसे इस बात के ऊपर कभी न जाना चाहिए कि शुद्ध अंतःकरण वाले के लिये सब कुछ पवित्र है क्योंकि बड़ी कठिनाई तो

अंतिम ढंग से पढ़ने के योग्य पुस्तकें कितनी थोड़ी हैं ! ऐसी पुस्तकें कितनी थोड़ी हैं जिनके विषय में मिल्टन की उक्ति चरितार्थ होती हो कि "पुस्तकों में वैसी ही क्रियमाण जीवन-शक्ति उत्पन्न करने का गुण होता है जैसी उनके लिखने वालों की आत्मा में थी"। पुस्तकों में उनके कर्त्ताओं की पवित्र बुद्धि का सार खींच कर रक्खा रहता है जिसके सेवन से मननशील पुरुषों में ज्ञान-शक्ति का संचार होता है।

मिल्टन ने आलोचनापूर्ण अध्ययन को कर्त्तव्य ठहरा कर इस बात का पक्ष लिया कि पुस्तकों के प्रकाशन में किसी प्रकार की बाधा राज्य की ओर से न होनी चाहिए, सब प्रकार की पुस्तकें छपें और प्रकाशित हों। बहुत से धार्मिक महात्मा हो गए हैं जो नास्तिकों की लिखी पुस्तकों को बराबर देखते थे। एक धर्म्मात्मा साधु के विषय में मिल्टन ने लिखा है कि "वह मनसा, वाचा, कर्म्मणा किसी प्रकार कोई पाप नहीं करना चाहता था। एक दिन सोचते सोचते वह इस उलझन में पड़ गया कि मैं कैसी बातों पर विचार करूं। इसी बीच में उसे दैवी स्वप्न हुआ कि चाहे जो पुस्तक तेरे हाथ में आवे उसे तू पढ़ डाल क्योंकि तेरी बुद्धि सत्य का निर्णय करने और प्रत्येक विषय की ठीक ठीक परीक्षा करने के योग्य है"। जिसे पर्य्यालोचन का अभ्यास हो जाता है वह सब प्रकार की बातें पढ़ता है पर उनमें जो अच्छी होती हैं उन्हीं को ग्रहण करता है।

मिल्टन ने आगे चल कर फिर कहा है—"पवित्र मनुष्य के निकट सब वस्तुएं पवित्र हैं, खान पान ही नहीं, सब प्रकार का पढ़ना भी, चाहे अच्छा हो चाहे बुरा। यदि अंतःकरण शुद्ध है तो किसी प्रकार का पढ़ना वा किसी प्रकार की पुस्तकें उसे कलुषित नहीं कर सकतीं। पुस्तकें भोजन की सामग्री के समान हैं जिनमें कुछ अच्छी होती हैं, कुछ बुरी। लोग अपनी रुचि के अनुसार उनको चुन सकते हैं। जिसकी पाचन शक्ति बिगड़ गई है उसके लिये अच्छा भोजन और बुरा भोजन क्या ? इसी प्रकार दुष्ट प्रकृति वाले के लिये उत्तम से उत्तम पुस्तकें भी अच्छे उपयोग में नहीं लाई जा सकतीं। पर पुस्तकों और खान पान की वस्तुओं में यह एक अंतर है कि निकृष्ट भोजन स्वस्थ से स्वस्थ शरीर का भी पोषण नहीं कर सकता पर निकृष्ट पुस्तकें पर्य्यालोचन शक्ति रखने वाले विवेक-शील पाठकों को पता लगाने, खंडन करने, सावधान करने और दृष्टांत देने में सहायता देती हैं"। मिल्टन का यह कथन वहीं तक स्वीकार किया जा सकता है जहां तक उसका संबंध राज्य की ओर से पहुंचाई जाने वाली बाधा को रोकने से है। वह विद्यार्थी के अनुसरण के योग्य नहीं है। राज्य की ओर से पुस्तकों के विषय में किसी प्रकार का बंधन होना अनुचित है पर विद्यार्थी के लिये आवश्यक और उपयोगी है। उसे इस बात के ऊपर कभी न जाना चाहिए कि शुद्ध अंतःकरण वाले के लिये सब कुछ पवित्र है क्योंकि बड़ी कठिनाई तो

यह है कि हम यह निर्णय नहीं कर सकते कि कौन सी वस्तुएं पवित्र हैं। बचपन से लेकर बराबर हम बुराई की प्रेरणाओं से घिरे रहते हैं। ऐसी अखंड पवित्रता कितनों में पाई जाती है जिन पर बुराइयों के संसर्ग से कुछ कलमष न लगे ? बहुत सी पुस्तकें ऐसी हैं जिन्हें पढ़ कर कोई युवा पुरुष बिना हानि उठाए नहीं रह सकता। यदि ऐसा हो भी सकता हो, यदि काजल छू कर वह कालिख से बच भी सकता हो तो भी उसे कोई लाभ नहीं पहुंच सकता। पहाड़ पर चढ़ कर कंकड़ चुनने से क्या लाभ ? नदियों और तालों में मोती नहीं मिल सकते। कुरुचिपूर्ण पुस्तकों में समालोचक लोग रचना के चाहे कितने ही चमत्कार दिखलावें पर उनकी कुप्रवृत्ति के कलंक को नहीं मिटा सकते। ग्वाल, देव आदि कवियों में रस और अलंकार की पूर्णता और उक्तियों की अपूर्वता का जो आनंद है वह उस हानि से घट कर है जो पाठक को उनकी विलास-वासना पूर्ण वाक्यावली से हो सकती है। इस से हमें क्या पढ़ना चाहिए, इसका पूर्ण विचार रखना चाहिए। अच्छी पुस्तकों का ग्रहण और बुरी पुस्तकों का त्याग करना चाहिए। हमें यह देख लेना चाहिए कि कौन पुस्तकें पवित्र और सारगर्भित हैं और कौन पुस्तकें अपवित्र और निःसार। मन वचन और कर्म्म से किए हुए पापों के लिये हम उत्तर-दाता हैं और पढ़ने का संबंध मन से है। प्रसिद्ध अंगरेजी उपन्यास-लेखक स्काट ने जब जाना कि उसके अंतिम दिन

निकट आते जाते हैं तब उसने कहा—"अब मेरे जीवन का अंतिम दिन निकट आता जाता है, अब मैं इस संसार रूपी रंगभूमि से विदा होना चाहता हूं। मैंने अपने समय में सब से अधिक पुस्तकें लिखीं और मुझे यह सोच कर परम संतोष है कि मैं ने अपनी पुस्तकों द्वारा किसी मनुष्य का धर्म-विश्वास डिगाने या किसी मनुष्य का सिद्धांत दूषित करने का प्रयत्न नहीं किया। मैं ने ऐसी कोई बात नहीं लिखी है जिसे मृत्यु-शय्या पर पड़ने के समय मैं मिटा देना चाहूं"। इसी प्रकार जब हमारी आयु पूरी होती दिखाई देगी, जब हमारे जीवन का अवसान निकट जान पड़ेगा तब हमें यह सोच कर बड़ी शांति होगी कि हमने ऐसी कोई पुस्तक नहीं पढ़ी जिसे मृत्युशय्या पर पड़ने के समय हम भूल जाना चाहें।

मैं ने अब तक जो कुछ कहा है वह कुवासना-पूर्ण पुस्तक ही को लक्ष्य करके, पर मेरी चेतावनी ऐसी पुस्तकों के विषय में भी है जिनकी रचना दूषित है, जो आंडवर पूर्ण कृत्रिम शब्दावली से भरी हैं, जिनकी वर्णनशैली भद्दी और जिनके विचार निकम्मे हैं, और जिनकी ओर ध्यान देना समय और श्रम को नष्ट करना है। रसविहीन, शब्दाडंबर-पूर्ण काव्य, बनावटी इतिहास, प्रचलित संशयवाद, उद्वेगपूर्ण उपन्यास इनको विद्यार्थी अपने मार्ग से दूर रक्खे क्योंकि ये उसकी उन्नति में बाधक ही होंगे। महात्मा लोग कह गए हैं कि ऐसी बातों

को ग्रहण करना चाहिए जो ऊँची हों। पर यदि हम अंतः-करण को मूर्खता, प्रमाद और असत्य द्वारा पतित होने देंगे तो यह कैसे हो सकेगा। पुस्तकालयों और विद्यार्थियों के लिये महात्माओं का यह उपदेश कितना अनमोल है! पढ़ना उसी को चाहिए जिससे कुछ शिक्षा मिले, न कि केवल उद्वेग उत्पन्न हो, जिससे कुछ संयम आवे, न कि केवल ऊलजलूल विचार हों। अध्ययन सूर, तुलसी ऐसे कवियों का करना चाहिए जो मानव प्रकृति को प्रत्यक्ष करते हैं, न कि ग्वाल और देव ऐसे कवियों का जो विषय वासना को उत्तेजित करते हैं। पढ़ने में इसको अपना अटल सिद्धांत रखना चाहिए।

अब पूछो कि यह कैसे जानें कि कौन सी पुस्तकें अच्छी और पढ़ने योग्य हैं और कौन सी पुस्तकें बुरी और रद्दी में फेंकने योग्य हैं, तो मैं यही कहता हूँ कि इस विषय में लोक-मत और परंपरागत आलोचना को प्रमाण मान कर चलना चाहिए। बुरी पुस्तकों पर संसार ने कलंक का टीका लगा दिया है, जो प्रत्यक्ष है। यदि तुम आंख खोल कर देखोगे तो यह स्पष्ट दिखाई देगा। यंत्रालयों से जो अनेक प्रकार की पुस्तकें नित्य निकला करती हैं और जो पदयोजना तथा वर्णन-शैली की विलक्षणता के कारण कुछ दिनों तक लोगों को बहुत प्रिय रहती हैं उनके विषय में यह सहज में निश्चित किया जा सकता है कि उनके पढ़ने से कोई लाभ होगा या नहीं। एक

प्रकरण क्या एक पृष्ठ ही पढ़ने से उनका उद्देश्य और भाव प्रकट हो जायगा। स्थालीपुलाकन्याय द्वारा एक चावल से सारी बटलोई का पता चल जाता है। एक चावल जिसे अच्छा लगेगा वह बटलोई का भात रुचि के साथ खायगा, यदि कच्चा या जला मालूम होगा तो छोड़ देगा। जब मैं कुछ पढ़ता हूं तो किसी अच्छे उद्देश्य से पढ़ता हूं। बहुत सी पुस्तकें ऐसी होती हैं जिन्हें देखते ही प्रकट हो जाता है कि वे उन सिद्धांतों के प्रतिकूल हैं जिन्हें मैं उत्तम समझता हूं। ऐसी पुस्तकों के विषय में मैं यह नहीं कह सकता कि मुझे उन्हें पढ़ना ही चाहिए। यदि कोई मनुष्य मुझ से आकर कहे कि मैं बड़ी गूढ़ युक्तियों के द्वारा यह सिद्ध करूंगा कि दो और दो पांच होते हैं तो मुझे उसकी बातें सुनने की अपेक्षा और बहुत से ज़रूरी काम हैं। यदि मुरब्बे का एक टुकड़ा मुंह में रखते ही मुंह का स्वाद बिगड़ जाय तो हमें यह देखने के लिये कि मुरब्बा रखना चाहिए या नहीं सब का सब खाने की आवश्यकता नहीं है। बीस भागों में समाप्त किसी बड़े पर साधारण ग्रंथ के तीन चार भाग पढ़ कर ही हमें ग्रंथकार की शक्ति और पहुंच का अंदाज़ कर लेना चाहिए और यह समझ लेना चाहिए कि यदि हम बीसों भाग पढ़ जांयगे तो भी हमें कोई उच्च भाव, गंभीर अन्वीक्षण या हृदय का सच्चा उद्गार न मिलेगा। ऐसे बीस भागों को पढ़ने से कोई लाभ नहीं। ऐसे बहुत से लोग पाए जाते हैं जो किसी फल की कामना से या किसी देवता

को प्रसन्न करने के लिये किसी ग्रंथ का पाठ, विना उसके अभिप्राय से कोई संबंध रक्खे हुए, सप्ताह वा महीने के भीतर जैसे तैसे समाप्त करते हैं। विद्यार्थी को ऐसी कोई आफ़त नहीं पडी है। हमें क्या पड़ी है कि हम किसी अपरिचित की निकम्मी बातें सुनने जांय। इसी प्रकार हमें क्या पड़ी है कि हम कोई बुरी पुस्तक पढ़ने जांय। जिस प्रकार हम एक से अपना पिंड छुड़ाते हैं उसी प्रकार दूसरी से भी अपना पिंड क्यों न छुड़ावें।

छठां प्रकरण।

स्वास्थ्य विधान।

"धर्म्मार्थ-काम-मोक्षाणां शरीरं साधनं परम्"

इस बात का विश्वास उन्नति के लिये परम आवश्यक है कि स्वास्थ्य-रक्षा मनुष्य का प्रधान धर्म है। बहुत कम लोग यह अच्छी तरह समझते हैं कि शरीर का संयम भी मनुष्य के कर्त्तव्यों में से है। जब तक शरीर है तभी तक मनुष्य सब कुछ कर सकता है। लोग बात बात में प्रगट करते हैं कि शरीर उनका है वे जिस तरह चाहें उसे रक्खें। प्राकृतिक नियमों का उल्लघंन करने से जो बाधा होती है उसे वे एक आकस्मिक आपत्ति समझते हैं, अपने किए का फल नहीं समझते। यद्यपि इस शारीरिक व्यतिक्रम का कुफल भी कुटुंब और परिवार के लोगों को उतना ही भोगना पड़ता है जितना और अपराधों का, पर इस प्रकार का व्यतिक्रम करने वाला अपने को अपराधी नहीं गिनता। मद्य पान से जो शारीरिक व्यतिक्रम होता है उसकी बुराई तो सब लोग स्वीकार करते हैं पर यह नहीं समझते कि जैसे यह शारीरिक व्यतिक्रम बुरा है वैसे ही प्रत्येक शारीरिक व्यतिक्रम बुरे हैं। बात यह है कि स्वास्थ्य के

नियमों का उल्लंघन भी पाप है। आत्मसंस्कार की वह शिक्षा अधूरी ही समझी जायगी जिस में शरीर-संयम की व्यवस्था और स्वास्थ्य-रक्षा का विधान न होगा। इसी से बड़े बड़े विद्यालयों में जिनमें वैज्ञानिक शिक्षा का पूर्ण प्रबंध है शरीर विज्ञान को अच्छा स्थान दिया जाता है। हमारे कल्याण के लिये जैसे गणित के नियमों और शब्दों के रूपों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है वैसे ही शरीर-यंत्र की उन क्रियाओं का जानना भी परम आवश्यक है जिनके द्वारा जीवन की स्थिति रहती है। जब शरीर अस्वस्थ रहता है तब चित्त भी ठीक नहीं रहता। प्रौढ़ बुद्धि और सूक्ष्म विवेक के लिये पुष्ट शरीर का होना आवश्यक है। शरीर की रक्षा करना प्रत्येक धार्मिक का कर्त्तव्य है क्योंकि "शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्"। ईश्वर के सामने हमें इसका हिसाब देना होगा कि हमने उससे प्राप्त की हुई शक्तियों का ठीक ठीक उपयोग किया है। इसके लिये समाज के प्रति भी हम उत्तरदाता हैं क्योंकि उसका कल्याण प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण पर निर्भर है। सब से अधिक तो हमारे व्यतिक्रम का परिणाम हमारे ही ऊपर पड़ेगा क्योंकि हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम किसी शारीरिक शक्ति पर अत्यंत अधिक ज़ोर न डालें।

स्वास्थ्य का बड़ा भारी नियम इस रूप में कहा जा सकता है। शरीर की शक्तियों का जो निरर्थक क्षय प्रति क्षण

क्षय होता रहता है उसकी पूर्त्ति का ठीक ठीक प्रबंध परम आवश्यक है। शरीर की जो गरमी बराबर निकलती रहती हैं और उसके संयोजक द्रव्य का जो क्षय होता रहता है उसकी कड़ी सूचना भूख और प्यास के वेग द्वारा मिलती है। जिस प्रकार किसी सेना के सिपाही अधिपति से कहते हैं कि और सामग्री लाओ नहीं तो हड़ताल कर देंगे उसी प्रकार शारीरिक शक्तियाँ भी शरीरी से अपनी पुकार सुनाती हैं और काम बंद करने की धमकी देती हैं। बुद्धिमान मनुष्य अपना लाभ सोच कर उनकी सूचना पर ध्यान देता है और उन्हें आवश्यकता के अनुसार ताज़ी हवा, अन्न और जल पहुंचाता है। जिन अवयवों से स्वच्छ वायु का उपयोग होता है उन्हें श्वासवाहक अवयव कहते हैं, जो भोजन ग्रहण करते हैं उसका रस तैयार करते हैं उन्हें पाचक अवयव कहते हैं, जो सारे शरीर में रक्त द्वारा वायु और रस का संचार करते हैं वे संचारक अवयव कहलाते हैं, जो शरीर के अनावश्यक द्रव्यों को बाहर करते हैं वे मल-वाहक अवयव कहलाते हैं। बहुत सी अवस्थाओं में तो अधिकतर यह मनुष्यों ही के वश की बात है कि वे इन अवयवोंको स्वस्थ दशा में रक्खें जिसमें वे अपना काम ठीक ठीक कर सकें। यदि वे ऐसा न करेंगे तो उनके शरीर के भीतर जो क्षय होता है वह पोषण की अपेक्षा अधिक होगा, जिसका परिणाम रोग और मृत्यु है। उनका मस्तिष्क और हृदय भी जो जीवन

के आधार हैं अशक्त होने के कारण अपना काम छोड़ देंगे। पर जो लोग इस विषय में अपने लाभ कर्त्तव्य को विचारेंगे वे दो बातों का पूरा ध्यान रक्खेंगे, भोजन का और व्यायाम का। व्यायाम संचारक-अवयवों को इसका ठीक ठीक संचार करने में सहायता देता है। भोजन-संचारक और मलवाहक अवयवों की क्रिया का उपक्रम करता है। स्वास्थ्य के लिये और बहुत सी बातों का विचार रखना होता है, जैसे ताज़ी हवा, ऋतु के अनुकूल कपड़े लत्ते का, विश्राम और नींद का इत्यादि इत्यादि। पर मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि यदि मनुष्य भोजन और व्यायाम के विषय में पूरी सावधानी रक्खे तो वह भला चंगा रह सकता है। यह भी आवश्यक है कि मनुष्य सफ़ाई से रहे और कोई ऐसा व्यवसाय न करे जो स्वास्थ्य को हानिकर हो।

भोजन के विषय में पक्का सिद्धांत यह है कि न बहुत अधिक खाय और न बहुत कम। अधिक खाने से कभी कभी जितनी हानि हो जाती है उतनी कम खाने से नहीं होती। यदि तुम पक्वाशय और अँतड़ियों पर इतना बोझ डालो कि वे उसे सँभाल न सकें तो उनका काम बंद हो जायगा। इस विषय में संयम का ध्यान बराबर रखना चाहिए और इस बात को समझना चाहिए कि हम जीने के लिये खाते हैं, न कि खाने के लिये जीते हैं। भोजन उतना ही करना चाहिए जितने में तुष्टि हो जाय, उसके ऊपर केवल मज़े के लिये खाते जाना ठीक नहीं

हैं। शरीर पोषण के लिये यह आवश्यक है कि जो कुछ हम खाँय उसमें कई प्रकार के द्रव्य हों, जैसे सत्त (जो आटे, मांस, अंडे, आदि में होता है), चिकनाई (जो दूध, घी, चरबी, तेल आदि में होती है), लसी (जो चीनी, साबूदाना, शहद, आदि में होती है) और खनिज पदार्थ (जो पानी, नमक, क्षार आदि है)।

स्वास्थ्य के लिये जैसे यह आवश्यक है कि भोजन बहुत अधिक न किया जाय वैसे ही यह भी आवश्यक है कि कोई एक ही प्रकार की वस्तु बहुत अधिक न खाई जाय। हमें मिला जुला भोजन करना चाहिए अर्थात् हमारे भोजन में कई प्रकार की चीज़ें रहनी चाहिएं जिसमें आवश्यक मात्रा में वे सब द्रव्य पहुंचे जिनसे शरीर का पोषण होता है और उसमें शक्ति आती है। कोई पदार्थ बराबर भोजन का काम नहीं दे सकता अर्थात् शरीर के क्षय को नहीं रोक सकता, जब तक कि उसमें शरीर-तंतु बनाने वाला सत्त न हो। जिस पदार्थ में यह सत्त आवश्यक मात्रा में होता है वही बराबर आहार के लिये उपयोगी हो सकता है। खनिज अंश का भी उसमें रहना आवश्यक है। लसी या चिकनाई दो में से एक भी हो तो काम चल सकता है।

यद्यपि भोजन में सत्त वाले पदार्थों का उपयोग बहुत होता है पर उन्हें अधिक मात्रा में खाने से ख़र्च भी अधिक होता है। एक जवान आदमी को शरीर की पूर्ति के लिये ४००० ग्रेन कारबन और ८०० ग्रेन नाइट्रोजन की आवश्यकता

होती है। सत्त वाले पदार्थों में साधारणतः सैकड़ा पीछे ५३ भाग कारबन और १५ भाग नाइट्रोजन होता है। अतः ४००० ग्रेन कारबन के लिये मनुष्य को ७५०० ग्रेन सत्त खाना चाहिए। ७५०० ग्रेन में ११०० ग्रेन नाइट्रोजन होता है जो आवश्यक से चौगुना है। इससे सत्त ही अधिक खाने से मेदे पर बहुत ज़ोर पड़ता है और आँतों को फालतू नाइट्रोजन निकालने में बड़ा परिश्रम पड़ता है। स्निग्ध पदार्थों (घी, मक्खन, तेल आदि) तथा चीनी आदि में कारबन का भाग बहुत अधिक होता है और नाइट्रोजन कुछ भी नहीं होता। भोजन के साथ घी या मक्खन आदि मिला लेने से सत्त की बहुत कुछ आवश्यकता पूरी हो जाती है। भोजन में कुछ चीनी आदि का रहना भी उपकारी है।

भोजन के विषय में ठीक ठीक कोई नियम निर्धारित करना असंभव है। प्रत्येक मनुष्य को अपने निज के अनुभव द्वारा यह देखना चाहिए उसे क्या क्या वस्तु कितनी कितनी खानी चाहिए। लोगों की प्रकृति जुदी जुदी होती है। कोई मांस नहीं खा सकते, कोई रोटी नहीं पचा सकते। बहुत से लोग ऐसे होते हैं जिनका पेट उरद की दाल खाते ही बिगड़ जाता है। सारांश यह प्रत्येक मनुष्य यह आप निश्चित कर सकता है कि उसे कौन सी वस्तु अनुकूल पड़ती है और कौन प्रतिकूल। उसे यह उपदेश देने की उतनी आवश्यकता नहीं है कि तुम यह खाया करो, यह न खाया करो। ध्यान रखने की बात केवल

इतनी ही है कि भोजन भिन्न भिन्न प्रकार का हो और उसमें संयम रक्खा जाय। दो चार बातें और बतलाने की हैं। एक, भोजन के उपरांत फिर दूसरा भोजन कुछ अंतर देकर किया जाय जिसमें पहले भोजन को पचने का समय मिले। जब तक एक बार किया हुआ भोजन पच न जाय तब तक दूसरा भोजन न करना चाहिए। यदि तुमने सवेरे ६ बजे कुछ जलपान कर लिया है, तो दस बजे के पहले भोजन न करो। इसी प्रकार संध्या के समय यदि कुछ जलपान कर लिया है तो रात को नौ बजे से पहले भोजन न करो। कसरत करने के पीछे तुरंत ही भोजन न करो, शरीर को थोड़ा ठिकाने होने दो तब उस पर भोजन पचाने का बोझ डालो। इस बात का ध्यान रक्खो कि खाने की जो चीज़ें आवें वे ताज़ी और अच्छी हों, सड़ी गली न हों। भोजन अच्छी तरह से पका हो कच्चा न रहे। जो लोग मांस खाते हैं उन्हें बीच बीच में मछली भी खानी चाहिए। अनाज के साथ साग भाजी या तरकारी का रहना भी आवश्यक है। खाली सेर दो सेर दूध पी जाने की अपेक्षा उसे भोजन के साथ मिला कर खाना अच्छा है। जाड़े के दिनों में स्निग्ध पदार्थों का सेवन कुछ बढ़ा देना चाहिए और गरमी में कम कर देना चाहिए। बिना भूख के भोजन करना ठीक नहीं। भोजन का उतना ही अंश उपकारी होता है जितना पचता है, बिना पचे भोजन से हानि को छोड़ लाभ नहीं। बहुत लोग यह समझते हैं कि जितना ही भोजन पेट में जाय उतना ही अच्छा

और वे दिन भर कुछ न कुछ पेट में डालने की चिंता में रहा करते हैं, फल यह होता है कि उनकी पाचन-शक्ति बिगड़ जाती है, और उन्हें मंदाग्नि संग्रहणी आदि कई प्रकार के रोग लग जाते हैं।

खाद्य पदार्थों पर विचार करके अब मैं पेय पदार्थों के विषय में कुछ कहना चाहता हूं। प्राचीन यूनानियों का यह सिद्धांत था कि पीने के लिये पानी से बढ़ कर और कोई पदार्थ नहीं। गरम देश के लोगों के लिये यह सिद्धांत बड़े काम का है। ठंडे देशों के लोग चाय, काफ़ी, शराब आदि उत्तेजक पदार्थों का सेवन रखते हैं। स्वस्थ और हृष्ट पुष्ट मनुष्य के लिये उत्तेजक पदार्थों की उतनी आवश्यकता नहीं होती। थोड़ी चाय या काफ़ी का पीना अच्छा है, क्योंकि उस से शरीर में फुर्ती आती है और शरीर के क्षय का कुछ अवरोध होता है। पर चाय अधिक नहीं पीनी चाहिए, अधिक पीने से भय रहता है। चाय से क्षुधा की पूर्ति होती है इससे यात्रा इत्यादि में उसका व्यवहार अच्छा है। एक साहब चाय की प्रशंसा इस प्रकार करते हैं—"चाय पीने वाला थोड़ा खा कर भी शरीर को बनाए रख सकता है"। पर यह स्मरण रखना चाहिए पानी जिस सुगमता से पिया जाता है उस सुगमता से चाय आदि नहीं पी जा सकती। पानी सब प्रकृति के लोगों के स्वभावतः अनुकूल होता है पर बहुत से लोग चाय आदि नहीं पी सकते। बहुत से छात्र आज कल रात को

जागने के लिये खूब चाय पी लेते हैं। यह साधन बुरा है। कसरत के समय भी चाय नहीं पीनी चाहिए। लगातार बहुत देर तक परिश्रम करते करते यदि शरीर शिथिल हो गया हो तो थोड़ी सी चाय पी लेने से शरीर स्वस्थ हो जाता है पर प्यास लगने पर पानी हीं पीना ठीक होता है। गरमी के दिनों मे थोड़ा शरबत पी लेने से शरीर में ठंढक आ जाती है और घबराहट दूर हो जाती है। सारांश यह कि खाने पीने में भी हमें उसी प्रकार विचार से काम लेना चाहिए जैसे और सब कामों में। हमें अति कभी न करनी चाहिए और अनुभव से जो बात पाई जाय उसी को स्वीकार करना चाहिए। केवल फलाहार करना, केवल पयाहार करना, जल ही को समस्त व्याधियों का नाशक बतलाना ये सब सनक की बातें हैं। ऐसी ऐसी बातें उन्हीं को शोभा दे सकती हैं जो कहते हैं कि मोक्ष किसी एक ही प्रकार के सांप्रदायिक विश्वास से हो सकती है। मनुष्य के लिये सब से पक्का सिद्धांत तो यह है कि वह संयम रक्खे। यदि कोई युवा पुरुष खान पान के असंयम द्वारा अपना सोने का शरीर मिट्टी कर दे तो यह उसका बड़ा भारी अपराध है। खान पान के विषय में जितनी व्यर्थ की बकवाद होती है उतनी धर्म्म को छोड़ कर और किसी विषय की नहीं। बात यह है कि जो लोग ऐसी बकवाद किया करते हैं वे शरीर-शास्त्र के नियमों को कुछ भी नहीं जानते। यदि युवा पुरुष थोड़ी सी जानकारी इस शास्त्र के विषय में प्राप्त कर लें तो

उन्हें फिर खान पान के विषय में बहुत सा उपदेश सुनने की आवश्यकता न रह जाय और वे आप ही निश्चित कर लिया करें कि क्या खाना चाहिए, क्या पीना चाहिए, किससे बचना चाहिए। खान पान में समय का नियम बांधो, सादा भोजन संयम के साथ करो।

अब मैं भांग, शराब आदि उत्तेजक पदार्थों के विषय में दो चार बातें कहता हूं। यह तो सर्वसम्मत है कि इनका नियमित और अधिक मात्रा में सेवन दोषों का घर है। जिन्हें इनके अधिक सेवन की *लत लग जाती है उनका सारा जीवन सत्यानाश हो* जाता है। पर यह कभी नहीं कहा जा सकता कि जो चित्त के उदास होने या शरीर के शिथिल होने पर थोड़ी सी ठंढाई पी लेते हैं वे सीधे काल के मुख में ही जा पड़ते हैं। हां जो लोग अपने को वश में नहीं रख सकते, जिनके लिये संयम बहुत कठिन है, जिन्हें थोड़े से बहुत करते कुछ देर नहीं—ऐसे लोगों के लिये उचित यही है कि वे एक दम बचे रहें। उत्तेजक पदार्थों से बचना युवा पुरुषों के लिये तो बहुत अच्छा है। पर एक चुल्लू भांग को विष का घूंट कहना अत्युक्ति है। किसी दिन भर के थके मांदे मनुष्य को संध्या के समय थोड़ी ठंढाई पीते देख यह कहना कि ' बस, अब यह चौपट गया' आडंबर ही जान पड़ेगा। मैंने बहुत से बुड्ढों को देखा है कि जो सबेरे थोड़ी सी अफीम ले लेने से दिन भर अपना काम बड़ी फुरती के साथ करते हैं। ऐसे बुड्ढों को हम अफीमची नहीं कह

सकते। ठंढे देशों के लोग भोजन के साथ पाचन आदि के लिये थोड़ी मात्रा में मद्य का सेवन करते हैं। उनकी वह मात्रा जब बढ़ जाती है तब वे शराबी कहलाने लगते हैं और घृणा की दृष्टि से देखे जाते हैं।

उत्तेजक पदार्थों के पक्ष में इतना कहने के उपरांत मैं यह बतलाना आवश्यक समझता हूँ कि हृष्ट पुष्ट मनुष्य को, जिसे उपयुक्त भोजन और ताज़ी हवा मिलती है, तथा विश्राम और व्यायाम करने को मिलता है ऐसे पदार्थों की आवश्यकता नहीं है। पाठक मेरे कथन में कुछ विरोधाभास देख कर चकित होंगे, पर बात यह है कि इस संसार में ऐसे भाग्य-मान् थोड़े ही हैं जिनका शरीर हृष्ट पुष्ट हो, जिन्हें बहुत अधिक काम न करना पड़ता हो, जो चिंता से पीड़ित न हों। ऐसे लोग उत्तेजक पदार्थों का थोड़ा बहुत सेवन करें तो हानि नहीं। चालीस वर्ष की अवस्था के उपरांत बहुत लोगों को उत्तेजक पदार्थों के सेवन की आवश्यकता होती है क्योंकि उनसे भोजन पचता और शरीर में लगता है तथा शिथिल अंगों में काम करने की फुरती आती है। ऐसी अवस्था में भी उत्तेजक द्रव्य की मात्रा थोड़ी हो और वह क्रमशः बढ़ने न पावे।

अब रही हुक्के सिगरेट आदि पीने की बात। इस संबंध में पहले तो यह जानना चाहिए कि भले चंगे आदमी को तंबाकू से किसी रूप में भी कोई लाभ नहीं पहुंच सकता। तंबाकू

का व्यसन चाहे खाने का हो, चाहे पीने का, चाहे सूंघने का, व्यर्थ और निष्प्रयोजन ही है। इससे युवा पुरुषों को अपने कार्य्य में कोई सहायता नहीं मिल सकती। सिगरेट पीने वाले व्यर्थ कड़ुवा धुआं उड़ा कर परमेश्वर की स्वच्छ वायु को दूषित करते हैं और सुकुमार नासिका वालों को कष्ट पहुंचाते हैं। सुनते हैं कि चित्रकूट के पास के जंगल में दो अंगरेज़ सिगरेट पीते हुए सैर को निकले। रास्ते के किनारे दोनों ओर मधु मक्खियों के छत्ते थे। सिगरेट के धुएँ से मक्खियां इतनी बिगड़ीं कि सब छत्तों को छोड़ कर निकल आईं और उन्होंने डंकों से उन दोनों साहबों को मार डाला। अधिक तंबाकू पीने से हानि होती है इसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। पर इक्कीस वर्ष से ऊपर की अवस्था वाले प्रायः बहुत से लोगों को परिमित मात्रा में तंबाकू पीने से कोई हानि नहीं पहुंचती। पर यदि हानि न भी पहुंचे तो भी लाभ कोई नहीं है।

इस देश में पान खाने की प्रथा बहुत दिनों से है। भोजन के उपरांत लोग पान खाते हैं, आए गए का सत्कार भी पान इलायची देकर करते हैं। इस में कोई संदेह नहीं कि भोजन के पीछे या कुछ खाने के पीछे दो बीड़ा पान खा लेने से मुख शुद्ध हो जाता है, मुख में किसी प्रकार की दुर्गंध नहीं रह जाती और भोजन के उपरांत जो एक प्रकार का आलस्य या भारीपन आता है वह दूर हो जाता है। पान पाचन में भी सहायता देता है। पर अधिक मात्रा में पान खाना हानिकारक होता

है। बहुत अधिक पान खाने से अग्नि मंद हो जाती है, भूख पूरी नहीं लगती, एक प्रकार की घबराहट सी बनी रहती है जिससे किसी काम में चित्त नहीं लगता, जीभ स्तब्ध हो जाती है जिससे शब्दों का उच्चारण अस्पष्ट और रुक रुक कर होने लगता है। जिस प्रकार ऐसे लोग मिलते हैं जो दिन रात क्षण क्षण पर पान चबाया करते हैं उसी प्रकार ऐसे लोग भी मिलते हैं जो पान के नाम से कोसों दूर भागते हैं और सौ तरह से नाक भौं सिकोड़ते हैं। पहले प्रकार के लोगों पर यदि दुर्व्यसन सवार है तो दूसरे प्रकार के लोगों पर अपने को संयमी प्रकट करने की एक भूठी धुन है।

अब मैं व्यायाम का विषय लेता हूं जिस पर ध्यान देने की विद्यार्थी या युवा पुरुष को सब से अधिक आवश्यकता है। शरीर और चित्त की स्वस्थता, मन की फुरती और शक्ति की उमंग, बुद्धि की तीव्रता और मनन शक्ति की सूक्ष्मता आदि की रक्षा नियमित व्यायाम ही से हो सकती है। व्यायाम भी हमारी शिक्षा का एक अंग है। जैसे खाने और सोने के बिना हमारा काम नहीं चल सकता वैसे ही व्यायाम के बिना भी नहीं चल सकता। व्यायाम ही के द्वारा हम अपने अंगों, अवयवों, और नाड़ियों की शक्ति को स्थिर रख सकते हैं। व्यायाम ही के द्वारा हम शरीर के प्रत्येक भाग में रक्त का संचार समान रूप से कर सकते हैं, क्योंकि व्यायाम से पेशियों का दबाव रक्त वाहिनी नाड़ियों पर पड़ता है जिससे रक्त का संचार तीव्र

होता है। व्यायाम ही के सहारे जीवन सुखमय प्रतीत हो सकता है, क्योंकि व्यायाम से पाचन में सहयता मिलती है और, पाचन ठीक होने से उदासी नहीं रह सकती। व्यायाम ही के प्रभाव से मस्तिष्क अपना काम ठीक ठीक कर सकता है। संसार में जितने प्रसिद्ध पुरुष हो गए हैं सब ने व्यायाम का कोई न कोई ढंग निकाल रक्खा था। गोस्वामी तुलसीदास का नियम था कि नित्य सवेरे उठ कर वे शौच के लिये कोस दो कोस निकल जाते थे। शौच ही से लौटते समय उनका प्रेत के साक्षात् होना प्रसिद्ध है। भूषण कवि को घोड़े पर चढ़ने का अच्छा अभ्यास था। महाकवि भवभूति को यदि विंध्यपर्वत की घाटियों में घूमने का अभ्यास न होता तो वे दंडकारण्य आदि का ऐसा सुंन्दर वर्णन न कर सकते। महाराज पृथ्वीराज शिकार खेलते खेलते कभी कभी अपने राज्य की सीमा के बाहर निकल जाते थे। जब तक तुम आनंद दायक और नियमित व्यायाम द्वारा अपने को स्वस्थ न कर लिया करोगे तब तक तुम्हारा अंग या तुम्हारा मस्तिष्क ठीक नहीं रह सकता, तुम बातों का ठीक ठीक विचार और उचित निर्णय नहीं कर सकते। पीले पड़े हुए छात्र को मैं यही कहूंगा, "गेंद खेलो, कबड्डी खेलो, पेड़ों में पानी दो, किसी न किसी तरह की कसरत करो"। जो शारीरिक परिश्रम तुम से सहज में हो सके उसीको कर चलो, शरीर को किसी न किसी तरह हिलाओ डुलाओ। मुझ से जो पूछते हो तो मैं टहलना

या घूमना सब से अधिक स्वास्थ्यवर्द्धक और आनंददायक समझता हूं, पर तुम रुचि के अनुसार फेरफार कर लिया करो, कभी उछलो कूदो, कभी निशाना लगाओ, कभी तैरो, कभी घोड़े की सवारी करो। यह कभी न कहो कि तुम्हें समय नहीं मिलता या तुम्हारे पढ़ने में रुकावट होती है, पढ़ने में रुकावट ज़रूर होती है पर यह रुकावट होनी चाहिए। यह न कहो कि व्यायाम तुम से हो नहीं सकता। तुम से हो नहीं सकता, इसी लिये तो तुम्हें करना चाहिए। बुद्धि को पुराने समय की पोथियों के बोझ से दबाने की अपेक्षा उत्तम यह होगा कि तुम थोड़ा शरीर-विज्ञान जान लो और स्वास्थ्य के नियमों का ज्ञान प्राप्त कर लो तब तुम्हें मालूम होगा कि नौ नौ दस दस घंटे तक सिर नीचा किए और कमर झुकाए हुए इस प्रकार बैठे रहने से कि नाड़ियों का रक्त स्तंभित होने लगे तुम बहुत दिनों तक पृथ्वी पर नहीं रह सकते।

पाठक व्यायाम के लाभों को अच्छी तरह समझ कर मुझ से इसके नित्य-नियम के विषय में पूछेंगे। वे कहेंगे कि हम टहलने को तो तैयार हैं पर यह जानना चाहते हैं कि कितनी दूर तक और कितनी देर तक टहलें। यहां मैं फिर भी यही बात कहता हूं कि लोगों की अवस्था जुदी जुदी होती है इससे कोई ऐसा नियम बताना जो सब को बराबर अनुकूल पड़े प्रायः असंभव सा है। मैं बहुतों को जानता हूं जिन्हें अत्यंत अधिक कसरत करने से उतनी ही हानि पहुंचती है जितनी

न करने से पहुंचती है। पहले पहल एक वारगी बहुत सा श्रम करने लगना हानिकारक क्या भयानक है। जो मनुष्य कई सप्ताह तक बराबर क़लम दवात लिए बैठा रहा है उसका एक बारगी उठ कर बड़ी लम्बी दौड़ लगाना ठीक नहीं है। यदि किसी कारण से शारीरिक परिश्रम कुछ दिन तक बराबर बंद रहा हो तो उसे फिर थोड़ा थोड़ा करके आरंभ करना चाहिए और सामर्थ्य देख कर धीरे धीरे बढ़ना चाहिए। एक डाक्टर की राय है कि एक भले चंगे आदमी के लिये नित्य नौ मील तक पैदल चलना बहुत नहीं है। इस नौ मील में वह चलना फिरना शामिल है जो काम काज के लिये होता है। पर जो लोग मस्तिष्क या बुद्धि का काम करते हैं उनके लिये नित्य इतना अधिक परिश्रम करना न सहज ही है और न निरापद। मैं तो समझता हूं कि नित्य के लिये कोई हिसाब बाँधना उतना उपकारी नहीं है। यदि टहलते समय हमें इस बात का ध्यान रहेगा कि आज हमें इतने मील अवश्य चलना है तो टहलना भी एक बोझ या कोल्हू के बैल का चक्कर हो जायगा। जो बात आनंद के लिये की जाती है वह इस प्रतिबंध के कारण पिसाई हो जायगी। मनुष्य को दो घंटे खुली हवा में बिताना चाहिए और उन दो घंटों के बीच कोई हलका परिश्रम करना चाहिए तथा किसी प्रकार के प्रतिबंध या हिसाब का भाव चित्त में न आने देना चाहिए। तीन मील प्रति घंटे के हिसाब से टहलना अच्छा है।

एक डाक्टर ने जिन अंगों पर परिश्रम पड़ता है उनके अनुसार व्यायाम के तीन भेद किये हैं। पहला वह जिसमें शरीर के सब भागों पर समान परिश्रम पड़ता है जैसे तैरना, कुश्ती लड़ना, पेड़ पर चढ़ना। दूसरा वह जिस में हाथ पैर को परिश्रम पड़ता है, जैसे गेंद खेलना, निशाना लगाना आदि, तीसरा वह जिसमें पैर और धड़ पर ज़ोर पड़ता है ऊपर का भाग केवल सहायक होता है, जैसे उछलना कूदना, दौड़ना, टहलना आदि। इन तीनों में से प्रत्येक प्रकार का व्यायाम रुचि और अवस्था के अनुसार चुना जा सकता है। यह बात भी देखनी चाहिए कि किस प्रकार की कसरत लगातार कुछ देर तक हो सकती है, किस प्रकार की कसरत से मन में फुरती आती है और किस प्रकार की कसरत सहज में और सब जगह हो सकती है।। इन सब बातों पर विचार करने से टहलना ही सब से अच्छा पड़ता है। पर फेर फार के लिये और और प्रकार का परिश्रम भी,बीच में कर लेना अच्छा है। जमनास्टिक या लकड़ी पर की कसरत को मैं बहुत अच्छा नहीं समझता क्योंकि एक तो वह अस्वाभाविक (कृत्रिम) है दूसरे उसमें श्रम अत्यंत अधिक पड़ता है।

स्नान का स्वास्थ्यवर्द्धक गुण सब स्वीकार करते हैं इस से उसके संबन्ध।में अति के निषेध के सिवा और बहुत कुछ कहने की ज़रूरत नहीं है। बहुत से युवा पुरुष नदी, तालाब इत्यादि में हलते हैं तब बहुत देर तक नहीं निकलते। यह बुरा है। इस

से त्वचा की क्रिया में सुगमता नहीं, बाधा होती है। भोजन के उपरांत तुरंत स्नान कभी नहीं करना चाहिए। ठंढे पानी से स्नान उतना ही करना चाहिए जितने से नहाने के पीछे खून में मामूली गरमी जल्दी आजाय। मनुष्य के रक्त में साधारणतः ६८ या ६६ दरजे की गरमी होती है। यदि यह गरमी बहुत घट जाय या बढ़ जाय तो मनुष्य की अवस्था भयानक हो जाय और वह मर जाय। ठंढे पानी में स्नान करने से त्वचा शीतल होती है पर साथही खून की गरमी बढ़ती है। पर थोड़ी देर पानी में रहने के पीछे खून की गरमी घटने लगती है, नाड़ी मंद हो जाती है और एक प्रकार की शिथिलता जान पड़ने लगती है। पानी से निकलने पर खून में गरमी आने लगती है और शरीर में फुरती जान पड़ती है। तौलिये या अंगोछे की रगड़ से यह गरमी जल्दी आ जाती है। गरम पानी से नहाने से इसका उलटा असर होता है। नहाते समय त्वचा और रक्त दोनों की गरमी साथ ही बढ़ती है, नाड़ी तीव्र होती है। गरम पानी से निकलने पर त्वचा अत्यंत सुकुमार हो जाती है और रक्तवाहिनी नाड़ियों के फिर ठंढी होकर सिकुड़ने या स्तब्ध होने का भय रहता है, इससे गरम पानी से नहाने के पीछे शरीर को कपड़े से ढक लेना चाहिए या किसी गरम कोठरी में चला जाना चाहिए, एक बारगी ठंढी हवा में न निकल पड़ना चाहिए।

हृष्ट पुष्ट मनुष्य को सवेरे ठंढे पानी में स्नान करने से बड़ी फुरती रहती है पर अशक्त, दुर्बल, तथा गठिया आदि के

रोगियों को इस प्रकार के स्नान से बहुत भय रहता है। स्नान करना बहुत ही लाभकारी है पर यदि समझ बूझ कर किया जाय। अत्यंत अधिक स्नान करने से, शरीर को अवस्था का विचार न करने से, लाभ के बदले हानि होती है।

स्वास्थ्य के संबंध में जितनी आवश्यक बातें थी उनका उल्लेख मैं संक्षेप में कर चुका केवल एक निद्रा का विषय और रह गया है। भला चंगा आदमी जैसे यह नहीं जानता कि पेट कैसे विगड़ता है वैसे ही वह यह नहीं जानता कि लोगों को नींद कैसे नहीं आती। नींद के लिये उसे कोई उपाय करने की आवश्यकता ही नहीं होती। खेद के साथ कहना पड़ता है कि अधिकांश मस्तिष्क से काम करने वाले नींद की चिंता और चर्चा बहुत किया करते हैं क्योंकि उन्हें नींद बार बार बुलाने पर भी नहीं आती। वे एक करवट से दूसरी करवट बदला करते हैं, थकावट से उनके अंग अंग शिथिल रहते हैं पर नींद उनके पास नहीं फटकती। नीद भी क्या सुंदर वस्तु है! जिस समय हम नींद में झपकी लेते हुए बिस्तर पर पड़ते हैं उस समय कैसी शांति मिलती है! हाथ पैर हिलाना डोलाना नहीं चाहते, एक अवस्था में कुछ देर पड़े रहना चाहते हैं। संज्ञा भी धीरे धीरे विदा होने लगती है और चेतना हमें छोड़ कर अलग जा पड़ती है। और न जाने कहाँ कहाँ भ्रमण करती है। जब मनुष्य देखे कि उसे नींद जल्दी नहीं आती तो उसे तुरंत उसके कारण का पता लगाना चाहिए। क्योंकि नींद

ही एक ऐसा समय है जब मस्तिष्क की शक्ति के क्षय की पूर्ति होती है, यदि पूर्ति न होगी तो पागल होने में कुछ देर नहीं। मस्तिष्क का काम करने वालों को हाथ पैर का काम करने वालों की अपेक्षा नींद की अधिक आवश्यकता होती है। पर जिनको अधिक आवश्यकता होती है उन्हीं को नींद न आने की शिकायत होती है, तब फिर ऐसे लोगों को क्या करना चाहिए? जिसे उन्निद्र रोग हो उसे अपने रोग के कारण का पता लगाना चाहिए और सोने के पहले उसे गरम पानी से स्नान कर लेना वा थोड़ा टहल आना चाहिए। कभी कभी कोठरी बदल देने से भी उपकार होता है। ऐसे रोगी को नींद लाने के लिये अफ़ीम, मरफ़िया आदि का सेवन कभी नहीं करना चाहिए।

अब यह बात अच्छी तरह से प्रमाणित हो गई है कि निद्रा मस्तिष्क के रक्तकोशों के ख़ाली होने से आती है अर्थात् मस्तिष्क में जब रक्त नहीं पहुंचता तभी निद्रा आती है इससे निद्राभिलाषी रोगी को चाहिए कि वह कोई ऐसा काम न करे जिससे मस्तिष्क में रक्त का संचार तीव्र हो। यदि ऐसा रोगी अच्छी तरह पता लगा कर देखेगा तो उसे मालूम होगा कि उसके रोग का कारण काम का अधिक बोझ व्यायाम का अभाव, रात को बहुत देर तक पढ़ना लिखना, बंद कमरे में बहुत देर तक बैठना इन्हीं में से कोई है। जब कारण मालूम हो जायगा तब उपाय सुगम हो जायगा। पर

यदि उन्निद्रता की मात्रा बहुत अधिक बढ़े तो समझना चाहिए कि शरीर में कोई व्याधि लग गई है और तुरंत किसी अच्छे चिकित्सक को दिखाना चाहिए। मैं यहां पर ऐसे उन्निद्र रोग की चर्चा करता हूं जो प्रायः लिखने पढ़ने वाले लोगों को उनकी भूलों के कारण हो जाया करता है, जैसे रात को बहुत देर तक काम करना, सोने के समय मन में बहुत सी बातों की चिंता रखना इत्यादि। कभी कभी छात्रगण साँस लेने के लिये कैसी और कितनी हवा चाहिए इसका कुछ भी ध्यान नहीं रखते। वे जाड़े के दिनों में कोठरी के सब किवाड़ बंद कर के सो रहते हैं, जिससे उन्हें साँस लेने के लिये ताजी हवा नहीं मिलती।

अब यह प्रश्न रहा कि कितने घंटे सोना चाहिए। इसका भी कोई ऐसा उत्तर नहीं दिया जा सकता जो सब लोगों पर बराबर ठीक घटे। बहुत से लोग ऐसे हैं जिनमें अधिक काम करने की शक्ति होती है और वे कम सोते हैं। सोने की आवश्यकता जब पूरी हो जाती है तब प्रकृति प्रायः आपसे आप जगा देती है। पर साधारणतः यह कहा जा सकता है कि लिखने पढ़ने वाले लोगों को कम से कम सात घंटे सोने की आवश्यकता होती है। यदि वे ग्यारह बजे सोवेंगे तो ६ बजे उठ जाने में उन्हें कोई कठिनता न होगी। जाड़े के दिनों में यदि सवेरे आधा घंटा और सोया जाय तो कोई हर्ज नहीं है। कृष्ण पक्ष में शुक्ल पक्ष की अपेक्षा सोने की अधिक आव-

श्यकता होती है। सवेरे उठना बहुत अच्छी बात है पर इस प्रकार का सवेरे उठना नहीं कि सोने के लिये पूरा समय ही न मिले। सवेरे वही उठ सकता है जो रात को सवेरे सो जाय। यदि विद्यार्थी दस बजे दिया बुझा दे तो पाँच बजे सवेरे उठ सकता है।

Printed by C. Y. Chintaman at the Leader Press Allahabad.